मध्यस्थ दर्शन - सहअस्तित्ववाद

मानव कर्म दर्शन

मध्यस्थ दर्शन भाग-2

मान्यता : ज्ञान की व्यापकता एवं प्रकृति का अनादित्व
सिद्धांत : श्रम - गति - परिणाम

ए. नागराज
श्री भजनाश्रम, अमरकंटक,
जिला अनूपपुर, म.प्र. (भारत) - 484886

अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन

प्रकाशक :
जीवन विद्या प्रकाशन
दिव्यपथ संस्थान
अमरकंटक, जिला अनूपपुर - 484886 म.प्र. भारत

प्रणेता एवं लेखक :
ए. नागराज
सर्वाधिकार प्रणेता एवं लेखक के पास सुरक्षित

संस्करण : 2004
पूर्व संस्करण : 2010
मुद्रण : जनवरी 2017

सहयोग राशि : /-

जानकारी :
Website : www.madhyasth-darshan.info
Email : info@madhyasth-darshn.info

सदुपयोग नीति :
यह प्रकाशन, सर्वशुभ के अर्थ में है और इस प्रकाशन का कोई व्यापारिक उद्देश्य नहीं है। इसलिए, इसका पूर्ण अथवा आंशिक मुद्रण, निजी उपयोग (मानवीयता एवं सार्वभौम शुभ के अर्थ में) करने के लिए उपलब्ध है। इसके अन्यथा किसी भी अर्थ में प्रयोग (मुद्रण, नकल आदि) करने के लिए 'दिव्यपथ संस्थान' अमरकंटक, जिला अनूपपुर - 484886, म.प्र. भारत से, पूर्व में लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है।

Good Use Policy :
This publication is for 'Universal Human Good' and has no commercial intent. It may be used & reproduced (in part/s or whole) for personal use. Any reproduction, copy of the contents of this publication for non-personal use has to be authorised beforehand via written permission from 'Divya Path Sansthan' Amarkantak, Anuppur - 484886, M.P. India.

विकल्प

1. अस्थिरता, अनिश्चयता मूलक भौतिक-रासायनिक वस्तु केन्द्रित विचार बनाम विज्ञान विधि से मानव का अध्ययन नहीं हो पाया । रहस्य मूलक आदर्शवादी चिंतन विधि से भी मानव का अध्ययन नहीं हो पाया। दोनों प्रकार के वादों में मानव को जीव कहा गया है।

विकल्प के रूप में अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिंतन विधि से मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद में मानव को ज्ञानावस्था में होने का पहचान किया एवं कराया।

मध्यस्थ दर्शन के अनुसार मानव ही ज्ञाता (जानने वाला), सहअस्तित्वरूपी अस्तित्व जानने-मानने योग्य वस्तु अर्थात् जानने के लिए संपूर्ण वस्तु है यही दर्शन ज्ञान है इसी के साथ जीवन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान सहित सहअस्तित्व प्रमाणित होने की विधि अध्ययन गम्य हो चुकी है।

अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन ज्ञान, मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद-शास्त्र रूप में अध्ययन के लिए मानव सम्मुख मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

2. अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन के पूर्व मेरी (ए.नागराज, अग्रहार नागराज, जिला हासन, कर्नाटक प्रदेश, भारत) दीक्षा अध्यात्मवादी ज्ञान वैदिक विचार सहज उपासना कर्म से हुई।

3. वेदान्त के अनुसार ज्ञान ''ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या'' जबकि ब्रह्म से जीव जगत की उत्पत्ति बताई गई।

उपासना	:- देवी देवताओं के संदर्भ में।
कर्म	:- स्वर्ग मिलने वाले सभी कर्म (भाषा के रूप में)।
मनु धर्म शास्त्र में	:- चार वर्ण चार आश्रमों का नित्य कर्म प्रस्तावित है।
कर्म काण्डों में	:- गर्भ संस्कार से मृत्यु संस्कार तक सोलह प्रकार के कर्म काण्ड मान्य है एवं उनके कार्यक्रम है ।

इन सबके अध्ययन से मेरे मन में प्रश्न उभरा कि -

4. सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म से उत्पन्न जीव जगत मिथ्या कैसे है ? तत्कालीन वेदज्ञों

एवं विद्वानों के साथ जिज्ञासा करने के क्रम में मुझे :-

समाधि में अज्ञात के ज्ञात होने का आश्वासन मिला। शास्त्रों के समर्थन के आधार पर साधना, समाधि, संयम कार्य सम्पन्न करने की स्वीकृति हुई। मैंने साधना, समाधि, संयम की स्थिति में संपूर्ण अस्तित्व सहअस्तित्व होने, रहने के रूप में अध्ययन, अनुभव विधि से पूर्ण, समझ को प्राप्त किया जिसके फलस्वरूप मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद वांङ्मय के रूप में विकल्प प्रकट हुआ।

5. आदर्शवादी शास्त्रों एवं रहस्य मूलक ईश्वर केंद्रित चिंतन ज्ञान तथा परम्परा के अनुसार- ज्ञान अव्यक्त अनिर्वचनीय।

मध्यस्थ दर्शन के अनुसार - ज्ञान व्यक्त वचनीय अध्ययन विधि से बोध गम्य, व्यवहार विधि से प्रमाण सर्व सुलभ होने के रुप में स्पष्ट हुआ।

6. अस्थिरता, अनिश्चियता मूलक भौतिकवाद के अनुसार वस्तु केंद्रित विचार में विज्ञान को ज्ञान माना जिसमें नियमों को मानव निर्मित करने की बात भी कही गयी है। इसके विकल्प में सहअस्तित्व रुपी अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन ज्ञान के अनुसार अस्तित्व स्थिर, विकास और जागृति निश्चित सम्पूर्ण नियम प्राकृतिक होना, रहना प्रतिपादित है।

7. अस्तित्व केवल भौतिक रासायनिक न होकर भौतिक रासायनिक एवं जीवन वस्तुयें व्यापक वस्तु में अविभाज्य वर्तमान है यही ''मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद'' शास्त्र सूत्र है।

सत्यापन

8. मैंने जहाँ से शरीर यात्रा शुरू किया वहाँ मेरे पूर्वज वेदमूर्ति कहलाते रहे। घर-गाँव में वेद व वेद विचार संबंधित वेदान्त, उपनिषद तथा दर्शन ही भाषा ध्वनि-धुन के रुप में सुनने में आते रहे। परिवार परंपरा में वेदसम्मत उपासना-आराधना-अर्चना-स्तवन कार्य सम्पन्न होता रहा।

9. हमारे परिवार परंपरा में शीर्ष कोटि के विद्वान सेवा भावी तथा श्रम शील व्यवहाराभ्यास एवं कर्माभ्यास सहज रहा जिसमें से श्रमशीलता एवं सेवा प्रवृत्तियाँ मुझको स्वीकार हुआ। विद्वता पक्ष में प्रश्नचिन्ह रहे।

10. प्रथम प्रश्न उभरा कि -

ब्रह्म सत्य से जगत व जीव का उत्पत्ति मिथ्या कैसे ?

दूसरा प्रश्न -

ब्रह्म ही बंधन एवं मोक्ष का कारण कैसे ?

तीसरा प्रश्न -

शब्द प्रमाण या शब्द का धारक वाहक प्रमाण ?

आप्त वाक्य प्रमाण या आप्त वाक्य का उद्गाता प्रमाण ?

शास्त्र प्रमाण या प्रणेता प्रमाण ?

समीचीन परिस्थिति में एक और प्रश्न उभरा

चौथा प्रश्न -

भारत में स्वतंत्रता के बाद संविधान सभा गठित हुआ जिसमें राष्ट्र, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय-चरित्र का सूत्र व्याख्या ना होते हुए जनप्रतिनिधि पात्र होने की स्वीकृति संविधान में होना।

वोट-नोट (धन) गठबंधन से जनादेश व जनप्रतिनिधि कैसा ?

संविधान में धर्म निरपेक्षता - एक वाक्य एवं उसी के साथ अनेक जाति, संप्रदाय, समुदाय का उल्लेख होना।

संविधान में समानता - एक वाक्य, उसी के साथ आरक्षण का उल्लेख और संविधान में उसकी प्रक्रिया होना।

जनतंत्र - शासन में जनप्रतिनिधियों की निर्वाचन प्रक्रिया में वोट- नोट का गठबंधन होना।

ये कैसा जनतंत्र है ?

11. इन प्रश्नों के जंजाल से मुक्ति पाने को तत्कालीन विद्वान, वेदमूर्तियों, सम्मानीय ऋषि-महर्षियों के सुझाव से -

(1) अज्ञात को ज्ञात करने के लिए समाधि एक मात्र रास्ता बताये जिसे मैंने स्वीकार किया।

(2) साधना के लिए अनुकूल स्थान के रूप में अमरकण्टक को स्वीकारा।

(3) सन् 1950 से साधना कर्म आरम्भ किया।
सन् 1960 के दशक में साधना में प्रौढ़ता आया।

(4) सन् 1970 में समाधि सम्पन्न होने की स्थिति स्वीकारने में आया। समाधि स्थिति में मेरे आशा-विचार-इच्छायें चुप रहीं। ऐसी स्थिति में अज्ञात को ज्ञात होने की घटना शून्य रही यह भी समझ में आया। यह स्थिति सहज साधना हर दिन बारह (12) से अट्ठारह (18) घंटे तक होता रहा।

समाधि, धारणा, ध्यान क्रम में संयम स्वयम् स्फूर्त प्रणाली मैंने स्वीकारा। दो वर्ष बाद संयम होने से समाधि होने का प्रमाण स्वीकारा। समाधि से संयम सम्पन्न होने की क्रिया में भी 12 घण्टे से 18 घण्टे लगते रहे। फलस्वरुप संपूर्ण अस्तित्व सहअस्तित्व सहज रूप में रहना, होना मुझे अनुभव हुआ। जिसका वांङ्मय ''मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद'' शास्त्र के रुप में प्रस्तुत हुआ।

12. सहअस्तित्व :- व्यापक वस्तु में संपूर्ण जड़-चैतन्य संपृक्त एवं नित्य वर्तमान होना समझ में आया।

सहअस्तित्व में ही :- परमाणु में विकासक्रम के रुप में भूखे एवं अजीर्ण परमाणु एवं परमाणु में ही विकास पूर्वक तृप्त परमाणुओं के रूप में 'जीवन' होना, रहना समझ में आया।

सहअस्तित्व में ही :- गठनपूर्ण परमाणु चैतन्य इकाई-'जीवन' रुप में होना समझ में आया।

सहअस्तित्व में ही :- भूखे व अजीर्ण परमाणु अणु व प्राणकोषाओं से ही सम्पूर्ण भौतिक रासायनिक प्राणावस्था रचनायें तथा परमाणु अणुओं से रचित धरती तथा अनेक धरतियों का रचना स्पष्ट होना समझ में आया।

13. अस्तित्व में भौतिक रचना रुपी धरती पर ही यौगिक विधि से रसायन तंत्र प्रक्रिया सहित प्राणकोषाओं से रचित रचनायें संपूर्ण वन-वनस्पतियों के रूप में समृद्ध होने के उपरांत प्राणकोषाओं से ही जीव शरीरों का रचना रचित होना और मानव शरीर का भी रचना सम्पन्न होना व परंपरा होना समझ में आया।

14. सहअस्तित्व में ही :- शरीर व जीवन के संयुक्त रुप में मानव परंपरा होना समझ में आया।

सहअस्तित्व में, से, के लिए :- सहअस्तित्व नित्य प्रभावी होना समझ में आया। यही नियतिक्रम होना समझ में आया।

15. नियति विधि :- सहअस्तित्व सहज विधि से ही :-

- पदार्थ अवस्था
- प्राण अवस्था
- जीव अवस्था
- ज्ञान अवस्था

  और

- प्राणपद
- भ्रांति पद
- देव पद
- दिव्य पद
- विकास क्रम, विकास
- जागृति क्रम, जागृति

तथा जागृति सहज मानव परंपरा ही मानवत्व सहित व्यवस्था समग्र व्यवस्था में भागीदारी नित्य वैभव होना समझ में आया। इसे मैंने सर्वशुभ सूत्र माना और सर्वमानव में शुभापेक्षा होना स्वीकारा फलस्वरूप चेतना विकास मूल्य शिक्षा, संविधान, आचरण व्यवस्था सहज सूत्र व्याख्या, मानव सम्मुख प्रस्तुत किया हूँ।

भूमि स्वर्ग हो, मानव देवता हो
धर्म सफल हो, नित्य शुभ हो।

- ए. नागराज

मध्यस्थ दर्शन के मूल तत्व

1. उद्घोष

- जीने दो और जियो।

2. मंगल-कामना

- भूमिः स्वर्गताम् यातु,
  मानवो यातु देवताम्,
  धर्मो सफलताम् यातु,
  नित्यं यातु शुभोदयम् ।।

- भूमि स्वर्ग हो,
  मानव देवता हों,
  धर्म सफल हो,
  नित्य मंगल हो ।।

3. अनुभव ज्ञान

- सत्ता में सम्पृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति, सत्ता (व्यापक) में सम्पृक्त जड़-चैतन्य इकाईयाँ अनन्त।
- व्यापक (पारगामी व पारदर्शी) सत्ता में सम्पृक्त सभी इकाईयाँ रूप, गुण, स्वभाव व धर्म सम्पन्न, त्व सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में हैं।

4. सिद्धान्त

- श्रम-गति-परिणाम।

5. उपदेश

- जाने हुए को मान लो।
  माने हुए को जान लो।

6. स्थिति

- स्थितिपूर्ण सत्ता में सम्पृक्त स्थितिशील प्रकृति ।
- सहअस्तित्व नित्य वर्तमान ।

7. प्रमाण

- अनुभव व्यवहार प्रयोग
- अनुभव ही प्रमाण परम
  प्रमाण ही समझ ज्ञान
  समझ ही प्रत्यक्ष,
  प्रत्यक्ष ही समाधान, कार्य-व्यवहार,
  कार्य-व्यवहार ही प्रमाण,
  प्रमाण ही जागृत परम्परा,
  जागृत परम्परा ही सहअस्तित्व ।

8. यथार्थ

- ब्रह्म सत्य, जगत शाश्वत ।
- ब्रह्म (सत्ता) व्यापक, जीवन पुंज अनेक ।
- जीवन पुंज में अविभाज्य आत्मा, बुद्धि, चित्त, वृत्ति, मन ।
  जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में मानव का वैभव ।
- ईश्वर व्यापक, देवता अनेक ।
- मानव जाति एक, कर्म अनेक ।
- भूमि (अखण्ड राष्ट्र) एक, राज्य अनेक ।
- मानव धर्म एक, समाधान अनेक ।
- जीवन नित्य, जन्म-मृत्यु एक घटना ।

9. वास्तविकता

- सहअस्तित्व में विकास क्रम, विकास ।
- जागृति क्रम, जागृति ।
- जागृति पूर्वक अभिव्यक्तियाँ समझदार मानव परम्परा ।

10. ज्ञान

- सहअस्तित्व में जीवन ज्ञान ।
- सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व दर्शन ज्ञान ।
- मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान ।
- अनुभव ही ज्ञान ।

11. अनुसंधान

- गठन पूर्णता ।
- क्रिया पूर्णता ।
- आचरण पूर्णता ।

12. आधार

- सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति (सहअस्तित्व) ।

13. प्रतिपादन

- भौतिक रासायनिक प्रकृति ही विकास क्रम में है । परमाणु ही विकसित रूप में चैतन्य इकाई है ।
- चैतन्य इकाई अर्थात् जीवन ही जागृति पूर्वक मानव परम्परा में अखण्ड सामाजिकता सहज प्रमाण ।
- सतर्कतापूर्ण मानवीयता, देव मानवीयता एवं सामाजिकता ।
- सजगतापूर्ण दिव्य मानवीयता ।
- गठन पूर्णता, क्रिया पूर्णता एवं आचरण पूर्णता ।

14. सत्यता

- सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति ही सृष्टि ।
- प्रकृति ही नियति ।
- नियति ही व्यवस्था ।
- व्यवस्था ही विकास एवं जागृति ।

- विकास एवं जागृति ही सृष्टि है ।
- नियम ही न्याय, न्याय ही धर्म, धर्म ही सत्य, सत्य ही ऐश्वर्य (सहअस्तित्व), ऐश्वर्यानुभूति ही आनन्द, आनन्द ही जीवन, जीवन में नियम है ।
- भ्रमित मानव ही कर्म करते समय स्वतन्त्र एवम् फल भोगते समय परतन्त्र है ।
- जागृत मानव कर्म करते समय तथा फल भोगते समय स्वतंत्र है ।

15. मानव शरण

- अखण्ड सामाजिकता सार्वभौम व्यवस्था (सहअस्तित्व) सहज प्रमाण परम्परा ।

16. मानवीय व्यवस्था

- मानवीयता । मानवत्व सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी ।

17. व्यक्ति में पूर्णता

- क्रिया पूर्णता ।
- आचरण पूर्णता ।

18. समाज में पूर्णता

- सर्वतोमुखी समाधान ।
- समृद्धि ।
- अभय ।
- सहअस्तित्व सहज प्रमाण परम्परा ।

19. राष्ट्र में पूर्णता

- कुशलता ।
- निपुणता ।

- पाण्डित्य ।

20. अन्तर्राष्ट्र में पूर्णता (अखण्ड राष्ट्र)

- मानवीय संस्कृति-सभ्यता-विधि-व्यवस्था में एकात्मता (सार्वभौमता) ।

21. मानव धर्म

- सुख, शान्ति, संतोष एवं आनन्द ।

22. धर्मनीति का आधार

- तन, मन तथा धन रूपी अर्थ के सदुपयोग हेतु व्यवस्था ।

23. राज्य नीति का आधार

- तन, मन तथा धन रूपी अर्थ की सुरक्षा हेतु व्यवस्था ।

24. अनुगमन और चिन्तन

- स्थूल से सूक्ष्म ।
- सूक्ष्म से कारण ।
- कारण से महाकारण ।

25. जागृति का प्रमाण

- अमानवीयता से मानवीयता ।
- मानवीयता से देव-मानवीयता ।
- देव-मानवीयता से दिव्य-मानवीयता ।

26. मांगल्य

- जीवन मंगल ।
- उदय मंगल ।
- समाधान मंगल ।

- अनुभव मंगल।
- जागृति मंगल।

27. सर्व मांगल्य

- मानव के चारों आयाम (कार्य, व्यवहार, विचार व अनुभूति), पाँचों स्थिति (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र व अन्तर्राष्ट्र) तथा दश सोपानीय परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में निर्विषमता (सामरस्यता) एवं एकसूत्रता।

28. महा मांगल्य

- सत्यानुभूति जागृति (भ्रम मुक्ति)।

29. उपलब्धि

- सहअस्तित्व में स्थापित मूल्यों में अनुभूति।
- समाधान, समृद्धि अभय, सहअस्तित्व सहज प्रमाण-यही सर्वशुभ।
- भ्रम मुक्ति और नित्य जागरण।

30. शिक्षा में पूर्णता

- चेतना विकास मूल्य शिक्षा।
- कारीगरी (तकनीकी) शिक्षा।

31. परम्परा में सम्पूर्णता

- मानवीय शिक्षा संस्कार।
- मानवीय संविधान।
- मानवीय परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था।

मध्यस्थ दर्शन में प्रतिपादित मूल बिन्दु

सत्ता मध्यस्थ है, व्यापक है। सत्ता में प्रकृति सम-विषम और मध्यस्थ क्रिया है, सीमित है। इसलिये सत्ता स्थिति पूर्ण है।

सत्ता में जड़-चैतन्य प्रकृति स्थितिशील है, इसलिये सत्ता में प्रकृति समायी हुई है। अत:, सत्ता में प्रकृति ओत-प्रोत है। अस्तु, सत्ता में प्रकृति सम्पृक्त है इसलिये ही प्रकृति पूर्णतया ऊर्जा सम्पन्न है। अस्तु, प्रकृति क्रियाशील है। अत: प्रकृति श्रम, गति एवं परिणामशील है। फलस्वरूप प्रकृति ही चार अवस्थाओं में प्रत्यक्ष है। इसलिये सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति में से चैतन्य प्रकृति ज्ञानावस्था में अनुभव करने की क्षमता, योग्यता एवं पात्रता से सम्पन्न होने के अवसर समीचीन है तथा चारों अवस्थाएं एक दूसरे से पूर्णता संपूर्णता के अर्थ में अनुबंधित हैं।

सत्ता मध्यस्थ है। इसलिये मध्यस्थ सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति नियंत्रित एवं संरक्षित है। प्रत्येक परमाणु में पाये जाने वाला मध्यांश (नाभिक) मध्यस्थ क्रिया है। इसलिये सम-विषमात्मक क्रियाएं एवं सापेक्ष शक्तियाँ नियंत्रित एवं संरक्षित हैं।

अनन्त क्रिया अथवा क्रिया-समूह ही प्रकृति है, जो जड़ और चैतन्य के रूप में गण्य है। जड़ प्रकृति ही विकास पूर्णता के अनन्तर चैतन्य पद को पाती है यह नियति विधि से सम्पन्न रहता है। मानव जड़ एवं चैतन्य का संयुक्त रूप है साथ ही प्रकृति का अंश भी है।

विकास क्रम में गठनपूर्णता ही विकास/जागृति क्रम में भ्रमित मानव में जागृति ही क्रिया पूर्णता एवं आचरण पूर्णता है। जागृत मानव कम विकसित प्रकृति के साथ व्यवहार व्यवसायपूर्वक सदुपयोग, प्रयोजनीयता का पोषण करता है। मानव का मानव के साथ व्यवहार, अधिक जागृत के साथ गौरव करना दायित्व है तथा अधिक जागृति के लिये अभ्यास, अध्ययन एवं चिंतन करता है।

भ्रमित मानव ही कर्म करते समय स्वतंत्र एवं फल भोगते समय परतंत्र है।

इस पृथ्वी पर मानव जागृति क्रम में है। उसे जागृतिपूर्ण होने का अवसर, वांछा एवं संभावना प्राप्त है। जागृत मानव का कम विकसित के लिए सहायक होना ही उसका प्रधान लक्षण है।

पदार्थावस्था से प्राणावस्था विकसित, प्राणावस्था से जीवावस्था विकसित, तथा जीवावस्था से भ्रांति ज्ञानावस्था का पशु मानव विकसित है। भ्रांति ज्ञानावस्था के पशु मानव

से भ्रांत राक्षस मानव विकसित, भ्रांत राक्षस मानव से भ्रांताभ्रांत मानव विकसित तथा भ्रांताभ्रांत मानव से निर्भ्रान्त देव मानव विकसित है। निर्भ्रान्त देवमानव से दिव्यमानव विकास एवं जागृति पूर्ण है।

ज्ञानावस्था की इकाई दर्शन क्षमता सम्पन्न है। दर्शन, व्यापक में अवस्थित जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति के संदर्भ में है।

निर्भ्रम अवस्था में ही अनुभव ज्ञान व दर्शन पूर्ण होता है। इसलिये -

निर्भ्रमता ही जागृति, जागृति ही प्रबुद्धता, प्रबुद्धता ही संप्रभुता, संप्रभुता ही प्रभुसत्ता, प्रभुसत्ता ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था है।

''मानव ही मानव के ह्रास व विकास में प्रधानत: सहायक है।''

''ज्ञानात्मनोर्विजयते ''

कृतज्ञता

उन सभी सुपथ प्रदर्शकों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ जिनसे आज भी यथार्थता के स्रोत जीवित हैं। कृतज्ञता जागृति की ओर प्रगति के लिये मौलिक मूल्य है। कृतज्ञता ही मूलत: संस्कृति व सभ्यता का आधारग्राही एवं संरक्षक मूल्य है।

जो कृतज्ञ नहीं है, वह मानव संस्कृति व सभ्यता का वाहक बनने का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकता। जो मानव संस्कृति व सभ्यता का वहन नहीं करेगा, वह विधि एवं व्यवस्था का पालन नहीं कर सकता।

संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था परस्पर पूरक हैं। इनके बिना अखण्ड समाज तथा सामाजिकता का निर्धारण संभव नहीं है। अस्तु, कृतज्ञता के बिना गौरव, गौरव के बिना सरलता, सरलता के बिना सहअस्तित्व, सहअस्तित्व के बिना कृतज्ञता की निरन्तरता नहीं है।

जो मानव कृतज्ञता को वहन करता है, उसी का आचरण अग्रिम पीढ़ी के लिये शिक्षाप्रद एवं प्रेरणादायी है। यह मानवीयता में ही सफल है। जिस विधि से भी चेतना विकास मूल्य शिक्षा के लिए सहज सहायता मिला हो उन सभी के लिए कृतज्ञता है।

‘‘ज्ञानात्मनोर्विजयते ’’

- ए. नागराज

अनुक्रमणिका

अध्याय 1

अध्याय 2

अध्याय 3

अध्याय- एक

कर्म

कायिक, वाचिक, मानसिक व कृत-कारित-अनुमोदित भेदों से नौ प्रकार से हर मानव कर्म करता है। हर कर्म का फल होता है।

मानव में कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्म तीनों कालों में प्रसिद्ध है। ये कृत-कारित-अनुमोदित भेद से पूर्णतः नौ प्रकार से गण्य हैं, जो प्रत्यक्ष हैं। मानव का कार्य क्षेत्र केवल प्राकृतिक, सामाजिक एवं बौद्धिक है, जिसका अभीष्ट सुख है। इससे अधिक या कम नहीं है। इसके बिना मानव में श्रम का विश्राम प्रकटन नहीं है। इसलिए काँक्षा सहित क्रिया ही कर्म, संचेतना सहित गति ही सम्पूर्ण क्रिया है।

अस्वीकार्य के स्वीकार का जो दबाव है वही वेदना है। वातावरण ही दबाव प्रदायी तथ्य एवं सापेक्षता है, जो प्रत्यक्ष है। सापेक्षता ही ह्रास व विकास का प्रभावशाली तथ्य है।

प्रत्येक कर्म में कर्ता, कारण, उद्देश्य, फल एवं प्रभाव ये पाँच अंग समाहित रहते हैं। आवश्यकता पूर्ति के लिए ही सम्पर्क एवं संबंध है। आवश्यकता ही इच्छा है, जिसके मूल में समाज, सामाजिकता, उसका पालन, परिपालन, आचरण, अनुसरण एवं अनुशीलन समाया रहता है।

दर्शन पूर्वक आवश्यकताओं का निर्धारण एवं अनुसरण करने की स्वीकृति के लिए की गयी सम्पूर्ण क्रियाएं इच्छा के रूप में होती हैं जो चैतन्य क्रिया में पाये जाने वाले संचेतना का प्रकटन है।

प्रत्येक इच्छा व आवश्यकता की पूर्ति से मानव सुखी होने की कामना करता है।

प्रत्येक कर्म में जो सुख की आशा है, यही अनुभव मूलक विधि से सुख, शान्ति, संतोष व आनन्द सहज रूप से ज्ञातव्य है। इच्छा, कर्म व फल का सन्तुलन ही अभीष्ट सिद्धि है जिसकी सम्भावना है। बौद्धिक, सामूहिक (सामाजिक) एवं प्राकृतिक उत्थान के लिए निश्चित दिशा के रूप में नियम तथा प्रक्रिया है, यही मानव का अभीष्ट है।

समस्त कर्म मानव में चिरआशित सुख का पोषक व शोषक सिद्ध हुआ है। यह तीन भागों में ज्ञातव्य है...सुकर्म, दुष्कर्म एवं मिश्रित कर्म। योग एवं जागृति के लक्ष्य भेद

से सुकर्म, अपराध एवं प्रतिकारात्मक रूप में दुष्कर्म तथा भोग एवं प्रतिकार के रूप में मिश्रित कर्म दृष्टव्य है। अशेष कर्म फल सापेक्ष है।

सम्पूर्ण कर्मों का फल चार रूपों में ज्ञातव्य है...मोक्ष, धर्म, काम एवं अर्थ। इच्छा के बिना कर्म नहीं है। मानव में इच्छाएँ तीव्र, कारण एवं सूक्ष्म भेद से ज्ञातव्य है। तीव्र इच्छा, क्रिया के रूप में अवतरित होती हैं। कारण इच्छाएं, क्रिया के रूप में अल्प संभाव्य हैं। सूक्ष्म इच्छाएं, क्रिया के रूप में अत्याल्प संभाव्य हैं।

तीव्र इच्छाएं- जिसके बिना जीना नहीं होता।

कारण इच्छाएं- योग, संयोग, घटनावश जो प्रेरणाएं होती हैं यह सब कारण इच्छाएं हैं।

सूक्ष्म इच्छाएं-मानव में सत्य कोई वस्तु है, जैसा सत्य, धर्म, न्याय, कोई वस्तु है जिसको प्रमाणित करने के लिए कोई स्पष्ट विचार नहीं रहता है।

सम्पूर्ण साधन अन्तरंग एवं बहिरंग भेद से दृष्टव्य है। अन्तरंग साधन आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और अनुभव प्रमाणों के रूप में तथा बहिरंग साधन तन और धन के रूप में पाये जाते हैं। यही जड़ और चैतन्य क्रिया का स्पष्ट रूप है। जड़ व चैतन्य की एक-सूत्रता, सन्तुलन व सामंजस्य को पा लेना ही अभीष्ट सिद्धि है। अभीष्ट सिद्धि के लिए प्रत्येक मानव प्रयासरत है, जो प्रत्यक्ष है।

साध्य (अभीष्ट) के लिए साधक का समर्पण एवं साधन का नियोजन आवश्यक है। साधन ही अर्थ है जो तन, मन एवं धन के रूप में दृष्टव्य है। यह कार्य से निर्मित होने के साथ ही कर्म निर्माण के लिए साधन भी है।

प्रत्येक कर्म में अनुभूति एवं अनुमान क्रम उपलब्ध है। कर्मों का यह क्रम अनुभव पर्यन्त चलता रहेगा। सत्यानुभूति ही पूर्णता है। वस्तुस्थिति, वस्तुगत एवं स्थिति सत्य सहज अनुभव प्रसिद्ध है, इसलिए सम्पूर्ण अर्थ का पूर्ण अर्थ अनुभव ही है।

समस्त कर्म अर्थोपार्जन हेतु ही हैं, जिसका प्रयोजन अनुभव है। समस्त अर्थ का उपार्जन उपयोग, सद्उपयोग एवं वितरण भी इच्छा की पूर्ति के लिए ही होता है। इच्छा की पूर्ति के मूल में अनुभव ही है। यह केवल जागृति पूर्वक व्यक्ति एवं समग्र मानव में प्रत्यक्ष है। जो अस्तित्व में है उसी का दर्शन एवं ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान ही अनुभव है।

मानव में सुख रूपी अभीष्ट-साम्य है। अंतरंग व बहिरंग साधन का अनुभव के लिए प्रयुक्त होना ही प्रबुद्धता है। अन्यथा अप्रबुद्धता है। इन दोनों स्थितियों की सम्भावना ही वैविध्यता का आधार है।

अन्तरंग साधन (आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा, अनुभव प्रमाण) की क्षमता के अनुरूप ही बहिरंग साधनों का नियन्त्रण है। अन्तरंग समुच्चय ही चैतन्य है। जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति ज्ञान (सत्ता) में समाहित है, इसलिए वह उसमें नियन्त्रित है ऐसे साम्य-नियंत्रण में अनुभव पर्यन्त विकास और जागृति है।

ज्ञानपूर्ण जीवन में निर्भ्रमता का उदय एवं विपरीत में भ्रम दृष्टव्य है। ज्ञान ही अनुभव, संकल्प, इच्छा, विचार एवं आशा है, जिनका पूर्ण प्रकटन चैतन्य इकाई की जागृति शीलता एवं क्षमता पर आधारित पाया जाता है।

निर्भ्रमता पूर्ण क्षमता ही उचित एवं परिमार्जित कर्म करने में समर्थ होने के कारण अभीष्ट सिद्धि है। मानव के द्वारा प्रकट होने वाला ज्ञान तीन प्रकार से ज्ञातव्य है :- (1) भौतिक (2) बौद्धिक एवं (3) अध्यात्मिक (सह-अस्तित्व)। इनका प्रत्यक्ष रूप कुशलता, निपुणता एवं पांडित्य है।

प्रधानतः समस्त बहिरंग साधनों से पदार्थ विज्ञान की साधना तथा अन्तरंग साधनों से बौद्धिक एवं अध्यात्म विज्ञान की साधना है। पदार्थ विज्ञान व मनोविज्ञान सापेक्ष ज्ञान व अध्ययन हैं। अध्यात्म (सत्ता) निरपेक्ष (निश्चित) ज्ञान है। सापेक्षता में आय, व्यय, ह्रास, विकास एवं जागृति है। सम्पूर्ण शब्द-शक्तियों का सद्व्यय ज्ञानकारक एवं अपव्यय अज्ञानकारक है। जो जिसका अपव्यय करता है वह उससे वंचित हो जाता है।

समस्त कर्मों के फलस्वरूप ही अर्थ, अनर्थ, सुकाम, दुष्कर्म, धर्म, अधर्म तथा मोक्ष-बंधन है। अर्थ, सुकाम, धर्म एवं मोक्षगामी जागृति जीवन कार्यक्रम में सुख तथा इसके विपरीत अनर्थ, दुष्कर्म, अधर्म एवं बन्धन की प्रक्रिया एवं जीवन में समस्या ही दुःख और पीड़ा है।

धर्म सर्वतोमुखी समाधान है। अर्थ तन, मन, धन है। परम अर्थ अनुभव है। जागृत मानव में सुकाम का तात्पर्य संज्ञानीयता पूर्वक संवेदनाएं नियन्त्रित और प्रमाणित होने से है। मोक्ष भ्रममुक्ति है।

''अर्थ ही सुख, सुकर्म ही शान्ति, धर्म ही सन्तोष एवं मोक्ष ही परमानन्द है।''

समस्त इच्छाओं के सात भेद हैं :-

मोक्ष के लिए अर्थ, अर्थ के लिए मोक्ष जो क्रमशः उत्तमोत्तम अधमाधम है। धर्म के लिए अर्थ, अर्थ के लिए धर्म जो क्रमशः मध्योत्तम अधम है। काम के लिए अर्थ, अर्थ के लिए काम जो क्रमशः उत्तम अधम मध्यम है एवं अर्थ के लिए अर्थ जो मध्यम है।

इच्छा भेद से अन्वेषण, अन्वेषण भेद से गम्यता, गम्यता भेद से अनुभव, अनुभव भेद से मूल्य, मूल्य भेद से सामाजिकता एवं सार्वभौम व्यवस्था है।

तीन प्रकार की अन्वेषण प्रवृत्तियाँ मानव में पाई जाती हैं :-

(1) सत्यान्वेषण, (2) ऐषणान्वेषण, (3) विषयान्वेषण।

विषयान्वेषण प्रवृत्तियाँ जीवों में भी दृष्टव्य हैं। शेष दो मानव में ही हैं। इसलिये विषयान्वेषण प्रवृत्तियाँ अपराध से मुक्त नहीं हैं।

विषयों से अनासक्ति ही विराग है जो विकारों से मुक्ति है। ऐषणाओं से अनासक्ति ही पर-वैराग्य है जो सद्व्ययता की स्वीकृति एवं निर्वाह है।

विषयान्वेषण प्रवृत्ति स्वार्थ में, ऐषणान्वेषण परार्थ में व सत्यान्वेषण परमार्थ में

क्रियाशील है।

स्वार्थपूर्ण व्यवहार अधम और असामाजिक, परार्थ पूर्ण व्यवहार मध्यमोत्तम और सामाजिक, परमार्थ पूर्ण व्यवहार उत्तम, सामाजिक एवं स्वतंत्र है। परमार्थ पूर्ण व्यवहार ही सर्वशुभ मानसिकता है।

लक्ष्य मूलक, मूल्य मूलक व रूचि मूलक प्रवृत्तियाँ होना पाया जाता है।

मानव में बुद्धि मूलक एवं रूचि मूलक योगों से सुकर्म-दुष्कर्म जन्य गतिविधियाँ प्रसिद्ध है।

कासा, आकूति, मेधा, योग-जन्य-बुद्धि प्राप्त योग जन्य बुद्धि; मति सुमति अनुमति सुकर्म-जन्य बुद्धि; अमति, कुमति, दुर्मति, दुष्कर्म-जन्य प्रवृत्ति के प्रत्यक्ष रूप हैं।

योग-जन्य कासा का प्रत्यक्ष रूप कवि, कोविद्, कलाविद् के रूप में; आकूति दिव्य कर्मी (स्पष्ट अभ्युदयकारी); दिव्य-प्रयोजनशील उपयोग दिव्य ज्ञानी (निर्भ्रान्त) के रूप में तथा मेधा परिपूर्ण ज्ञान समेत मोक्ष (भ्रम मुक्ति) का प्रत्यक्ष रूप है। यही दया, कृपा, करूणा के रूप में प्रकट और स्पष्ट है।

सुकर्म-जन्य-मति मान्य (सामाजिक) कर्म, आचरण एवं कार्य-व्यवहार के रूप में; सुमति-सुकर्म (समाज के लिये आवश्यकीय कर्म) आचरण एवं कार्य व्यवहार के रूप में अनुमति अनुपम कर्म (अनुसरण योग्य), आचरण एवं कार्य व्यवहार के रूप में है।

सुकर्म ही सद्बुद्धि, सद्प्रवृत्ति, सुबोध, सद्विज्ञान, सामाजिकता एवं सत् संकल्प है।

दुष्कर्म जन्य अमति अमान्य (असामाजिक) कर्म, आचरण एवं कार्य-व्यवहार के रूप में कुमति, कुत्सित कर्म (विशेष रूप से निषिद्ध कर्म) आचरण एवं कार्य-व्यवहार के रूप में, दुर्मति दुष्ट -कर्म, आचरण एवं कार्य-व्यवहार के रूप में गण्य है जैसा परधन,

पर नारी-पर पुरुष, पर पीड़ात्मक कार्य।

विषयान्वेषी प्रवृत्ति दुष्कर्म में, ऐषणान्वेषी बुद्धि सत्कर्म में, सत्यान्वेषी बुद्धि योग अर्थात् जागृति में प्रसक्त, प्रयास एवं अभ्यासरत है।

प्रत्येक मानव सहज प्रवृत्तन वातावरण, अध्ययन एवं संस्कार के योगफल में प्रत्यक्ष है।

प्रकृति एवं मानव कृत भेद से वातावरण प्रसिद्ध है।

शिक्षा एवं व्यवस्था ही मानव कृत वातावरण का प्रत्यक्ष रूप है।

मानव मात्र का संस्कार ''अन्वेषण-त्रय'' (विषयान्वेषण, ऐषणावेषण, सत्यान्वेषण) में स्पष्ट है।

प्राकृतिक वातावरण की गणना प्रत्येक भूमि पर पाये जाने वाले शीत-उष्ण एवं वर्षा मान का संतुलन सहित मानवेत्तर तीनों अवस्थायें संबंधित रहता है।

प्रत्येक भूमि पर जो प्राकृतिक वातावरण वर्तमान है वह उस भूमि में पाये जाने वाले खनिज एवं वनस्पति की राशि पर आधारित है। यह उस भूमि के विकास पर आधारित है।

किसी भी भूमि पर ज्ञानावस्था के मानव की अवस्थिति घटना के पूर्व जीव व वनस्पतियों का समृद्ध होना अनिवार्य है। इसके पूर्व जल होना आवश्यक है।

प्रत्येक भूमि पर किसी अधिकतम-न्यूनतम शीत-उष्ण और वर्षा मान की सीमा में ही जीव एवं मानव अपने जीवनी-क्रम और जीवन के कार्यक्रम को सम्पन्न करने में समर्थ हुए हैं।

प्राकृतिक वातावरण का संतुलन भी मानव सहज जागृति के लिए सहयोगी है, इसलिए -

संतुलन के लिये आधार आवश्यक है।

अशेष प्रकृति का संतुलनाधार सत्ता ही है, जो पूर्ण है।

प्रत्येक क्रिया के संतुलन का आधार नियम है, जो पूर्ण है।

प्रत्येक व्यवहार के संतुलन का आधार न्याय है,जो पूर्ण है।

प्रत्येक विचार के संतुलन का आधार समाधान है, जो पूर्ण है।

प्रत्येक व्यक्ति में अनुभव का आधार सह-आस्तित्व रूपी परम सत्य है, जो समग्र है।

प्राकृतिक एवं मानव संतुलन एवं असंतुलन का प्रधान कारण मानव ही है, भ्रमित अवस्था में मानव कर्म करते समय स्वतंत्र एवं फल भोगते समय परतंत्र है। जागृत मानव कर्म करते समय तथा फल भोगते समय स्वतंत्र है। जागृत अवस्था में समझकर करने वाली परम्परा रहेगी तथा भ्रमित अवस्था में कर के समझने वाली परम्परा रहेगी। प्राकृतिक वैभव का विशेषकर मानव ही उपयोग करता है, जो प्रत्यक्ष है।

ऋतु-संतुलन को बनाये रखने के लिये भूमि में आवश्यकीय मात्रा में खनिज वनस्पति (वन) को सुरक्षित रखते हुए उपयोग करना, साथ ही उसकी उत्पादन-प्रक्रिया में विध्न उत्पन्न नहीं करना और सहायक होना ही **प्राकृतिक नियम** का तात्पर्य है। यह पूर्णतः मानव का दायित्व है।

वनस्पति (वन) एवं खनिज जिनकी उत्पत्ति की संभावना एवं क्रम स्पष्ट है उनका उन्हीं के अनुपात में उपयोग करना उचित है, अन्यथा प्राकृतिक दुर्घटनाओं से ग्रसित होना स्वभाविक है।

शिक्षा एवं व्यवस्था ही सामूहिक (सामाजिक) संतुलन को बनाये रखने का एक मात्र उपाय है।

सामाजिक संतुलन स्वधन, स्वनारी/स्वपुरूष एवं दया पूर्ण कार्य व्यवहार परंपरा है। इसके विपरीत में पर नारी, परपुरूष, पर-धन एवं पर-पीड़ा से असंतुलन ही है, जो प्रत्यक्ष है।

व्यक्ति के **विचार-संतुलन** (बौद्धिक संतुलन) के मूल में आवश्यकीय एवं अनावश्यकीय मूल प्रवृत्तियों की सक्रियता पाई जाती है। मानव के आवश्यकीय मूल प्रवृत्ति के मूल में संस्कार समझदारी ही रहता है। अनावश्यकता के मूल में भ्रम (विवशताएं) दृष्टव्य हैं।

आवश्यकीय मूल प्रवृत्तियाँ क्रम से असंग्रह (समृद्धि), स्नेह, विद्या, सरलता एवं अभय (वर्तमान में विश्वास) के रूप में, अनावश्यकीय मूल प्रवृत्तियाँ सुविधा, संग्रह, द्वेष, अविद्या, अभिमान एवं भय के रूप में प्रत्यक्ष हैं।

प्राकृतिक संतुलन, सामाजिक संतुलन एवं बौद्धिक संतुलन योग्य नियम ही आवश्यकीय नियम है। यही ''नियम-त्रय'' है।

आवश्यकीय नियमों का ज्ञान व अनुसरण निर्णय उसके सदुपयोग से, सदुपयोग का निर्णय विकास एवं जागृति से, विकास एवं जागृति का निर्णय बौद्धिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक नियमों के समझ व पालन से स्पष्ट होता है। मानव के लिए अपने विकास एवं जागृति क्रम श्रृंखला को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आवश्यकीय नियमों का अनुसरण एक अनिवार्य प्रक्रिया है। यही मानव-जीवन, जागृति क्रम, जागृत जीवन के कार्यक्रम का प्रत्यक्ष रूप भी है।

सांस्कृतिक मूल्यों का अवगाहन एवं निर्वहन व मूल्यांकन ही मानवकृत वातावरण है।

मानव में समाहित संस्कार ही उसके स्वभाव को अभिव्यक्त करता है। सुसंस्कार-पूत पूर्वक मानव संस्कृति का उद्‌गम होता है। यह तब तक संस्कार पूत होता ही रहेगा जब तक वह पूर्ण न हो जाये।

संस्कार पूर्णता का प्रत्यक्ष रूप मानवीयता, अतिमानवीयता पूर्ण स्वभाव ही है।

सुसंस्कृति सम्पन्नता का प्रत्यक्ष रूप मानवीयतापूर्ण स्वभाव है।

विकृत संस्कृति का प्रत्यक्ष रूप ही अमानवीयता है।

सामाजिकता पूर्ण संस्कृति मानवीयता पूर्वक स्पष्ट होती है। ऐसी मानवीयता के पोषण के लिये ही संस्कृति, सभ्यता, विधि और व्यवस्था है।

ये परस्पर पूरक हैं क्योंकि संस्कृति का पोषण सभ्यता, सभ्यता का पोषण विधि, विधि का पोषण व्यवस्था, व्यवस्था का पोषण संस्कृति करती है।

जागृत परम्परा में मानवीयतापूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रम संस्कारों का ही प्रदर्शन है क्योंकि जागृत परम्परा में संस्कार विहीन मानव नहीं है। जबकि भ्रमित मानव परम्पराएं समुदायों के रूप में गण्य हैं। यही सम्पूर्ण समस्या का कारण है। समस्याएं संस्कार का प्रमाण नहीं है, क्योंकि सभी समस्याएं समाधानित होते ही हैं।

चित्रण व विचार ही क्रमशः कला एवं उपादेयता को प्रकट करता है।

विचार सुसंस्कार से सम्बद्ध रहना ही जागृति है।

मानवीयतापूर्ण संस्कार ही सार्वभौम-संस्कृति का द्योतक है। इससे निम्न अर्थात् अमानवीय प्रवृत्तियों का सार्वभौम होना संभव ही नहीं है।

सामाजिक नियमों के पालन से ही स्वस्थ सार्वभौम संस्कृति और सभ्यता का उदय होता है। फलतः समाज की अखण्डता एवं उसकी अक्षुण्णता सिद्ध होती है।

मानव ही ऐसी इकाई है जो केवल अपनी ही सुख-सुविधा से संतृप्त नहीं है अपितु समझदारी पूर्ण व्यवहार एवं व्यवस्था से संतृप्त होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त सुविधा की सुरक्षा एवं सदुपयोग चाहता है, जो अनिवार्य है। इस प्रकार मानव सामाजिक व न्यायिक इकाई सिद्ध हुआ है या सिद्ध होने के लिये बाध्य है।

सामाजिकता, बौद्धिकता एवं भौतिकता का संयुक्त रूप है।

बौद्धिक क्षमता के नियंत्रण में भौतिकता है क्योंकि विचार के अभाव में उत्पादन व व्यवहार सिद्ध नहीं होता है।

प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ दृष्टियाँ भौतिक व्यवसाय तथा उसके उपयोग में प्रयुक्त हुई हैं जो जीव चेतना पूर्वक जीते हुए मानव में है। न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य दृष्टियाँ जागृत मानव परंपरा में व्यवहार तथा आचरण में निर्णायक सिद्ध हुई हैं।

मानव जीव चेतना पूर्वक अनेक समस्याओं को पैदा करता है। मानव चेतना पूर्वक समाधान को प्रमाणित करता है।

सद्शास्त्राध्ययन के बिना सत्य कामना एवं प्रवृत्ति, सत्य कामना के बिना सत्य-प्रेम, सत्य-प्रेम के बिना सत्य-निष्ठा, सत्य-निष्ठा के बिना सत्य-प्रतिष्ठा, सत्य-प्रतिष्ठा के बिना सत्य-प्रतीति, सत्य-प्रतीति के बिना सत्यानुभव, सत्यानुभव के बिना सद् शास्त्र का उद्घाटन तथा सद् शास्त्र के उद्घाटन के बिना सद् शास्त्र का अध्ययन पूर्ण और सार्थक नहीं है।

सत्य प्रतीति व अनुभूति में ही मानवीयता पूर्ण आचरण एवं न्याय पूर्वक व्यवहार में निष्ठा पाई जाती है।

मानवीयता पूर्ण आचरण व न्याय पूर्वक व्यवहार के बिना परस्परता में न्याय सम्मत विनिमय व न्याय सम्मत हित होना संभव नहीं है।

न्याय सम्मत विनिमय और हित ही समृद्धि है।

अन्याय पूर्ण लाभ और हित ही दुख और समस्या के रूप में प्रत्यक्ष है।

अनुभवमूलक बोध सहज जीवन ही मानवीयता एवं अतिमानवीयता के रूप में प्रत्यक्ष है।

सद्व्यय के बिना सत्य-प्रेम, सद्-प्रवृत्ति, सत्कर्म, सुख, शाँति, संतोष एवं आनन्द नहीं है।

मानव सत्यज्ञान, सत्यता के दर्शन-योग्य अध्ययन, कर्म व आचरण करने के लिये उन्मुख है, क्योंकि इसकी संभावना एवं आवश्यकता है, जो विधिवत् जीवन है।

मानवीयतापूर्ण अथवा मानवीयता में प्रत्येक कार्यक्रम विधि और व्यवस्था है। उसका आचरण ही सभ्यता और उस परम्परा का निर्वाह ही संस्कृति है।

मानव में दुख, अशान्ति, असंतोष ही द्वन्द्व है और यही द्वन्द्व का फल भी है।

मानव के लिये अशेष परिस्थितियाँ उनसे सम्पादित कर्म, उपासना, ज्ञान-योग्य-क्षमता से ही निर्मित होती हैं। यही परिस्थितियाँ उचित-अनुचित वातावरण का रूप धारण करती हैं।

जागृत-मानव का आचरण एवं व्यवहार ही व्यवस्था है जो शांति का कारण है।

जहाँ तक मानव का सम्पर्क है वहाँ तक दायित्व का अभाव नहीं है।

संबंध में दायित्व का निर्वाह होता ही है।

संबंध में दायित्व प्रधान कर्त्तव्य और संपर्क में कर्त्तव्य प्रधान दायित्व वर्तमान है। यही सामाजिकता है।

सर्व सम्मति योग्य शान्ति, समाधान एवं समृद्धि के कारण बोध सहित विधिवत् व्यवस्था प्रक्रिया द्वारा शुभ वातावरण का निर्माण होता है। ऐसी स्थिति में सद्- शास्त्र-सेवन एवं अभ्यास सर्व सुलभ हो जाता है।

अखण्ड सामाजिकता को प्रतिपादित करने योग्य शास्त्र व विचार, प्रचार-सम्पन्न सामाजिक कार्यक्रम, परिष्कृत विधि-व्यवस्था और विधान सम्पन्न व्यवस्था, आचरण सम्पन्न व्यक्ति, उसके प्रोत्साहन योग्य परिवार ही अखण्ड समाज का प्रत्यक्ष रूप है। यह

मानव की चिर आकाँक्षा और प्रमाण है। यही तृष्णा है और इसकी संभावना भी है।

मानव को जीवन की प्रत्येक स्थिति में शान्ति एवं स्थिरता की आवश्यकता है। सद् शास्त्र सेवन, मनन एवं आचरण से व्यक्ति तथा परिवार में शान्ति तथा स्थिरता पाई जाती है।

समग्रता के प्रति निर्भ्रमता को प्रदान करने, जागृति की दिशा तथा क्रम को स्पष्ट करने, मानवीय मूल्यों को सार्वभौमिक रूप में निर्धारित करने, मानवीयता से अतिमानवीयता के लिये समुचित शिक्षा प्रदान करने योग्य-क्षमता-सम्पन्न शास्त्र तथा शिक्षा प्रणाली ही शान्ति एवं स्थिरतापूर्ण जीवन को प्रत्येक स्तर में प्रस्थापित करने में समर्थ है। इसके बिना मानव जीवन में स्थिरता एवं शान्ति संभव नहीं है, जो स्पष्ट है।

मानव सुख, शान्ति, संतोष और उसकी स्थिरता के उपलक्ष्य (उपाय सहित लक्ष्य) की और गतिशीलता में ही समस्त कर्मों को करना चाहता है।

मानव कर्म करते समय में स्वतंत्र होने के कारण कर्मफलों से ही सुखी एवं दुखी होता है, जो प्रत्यक्ष है। मानवीयता में किया गया बौद्धिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक क्षेत्र में सम्पूर्ण कर्म सुख दायी है। यही अमानवीयता की सीमा में दुखदायी है, जो प्रत्यक्ष है।

इस वर्तमान में मानव चार प्रकार से गण्य है।

(1) पुण्यात्मा, (2) पापात्मा, (3) सुखी, (4) दुखी।

मानव की पाँचों स्थितियों (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र व अन्तर्राष्ट्र) में पुण्यात्मा, पापात्मा, सुखी एवं दुखी के साथ व्यवहार करने की नीति-रीति में अपनी-अपनी विशेषतायें दृष्टव्य हैं। यथाक्रम से व्यक्ति की सीमा में पूज्य, तटस्थ, संतोष एवं दया भाव; परिवार की सीमा में गौरव, उपेक्षा, सहकारिता एवं सेवा भाव; समाज की सीमा में पुरस्कार, परिमार्जन, सहयोग और सहकार भाव; राष्ट्र की सीमा में सम्मान, दण्ड (सुधार), समाधान की ओर दिशा दर्शन एवं सहयोग भाव; अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में संरक्षण, उद्धार, संवर्धन और परिष्करण भाव पूर्ण रीति-नीति पद्धति, विधि-विधान व्यवहार-

आचरण-सम्पन्न जीवन ही सफल अन्यथा असफल है। इसलिये यथा

	पुण्यात्मा	पापात्मा	सुखी	दुखी
व्यक्ति	पूज्य	तटस्थ	संतोष	दयाभाव
परिवार	गौरव	उपेक्षा	सहकारिता	सेवाभाव
समाज	पुरस्कार	परिमार्जन	सहयोग	सहकार भाव
राष्ट्र	सम्मान	दण्ड(सुधार)	आश्वासन	सहयोग भाव
अन्तर्राष्ट्र	संरक्षण	उद्धार	संवर्धन	परिष्करण भाव

समाज एवं सामाजिकता के बिना मानव जीवन में कोई मूल्य तथा कार्यक्रम सिद्ध नहीं होता है।

कार्यक्रम विहीन मानव नहीं है।

कार्यक्रम ही कर्म है।

कर्म मात्र ह्रास या विकास एवं जागृति के लिये सहायक है।

ह्रास या विकास की ओर गतिशील न हो ऐसी कोई इकाई जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति में नहीं है।

ज्ञान, विवेक और विज्ञान ही जागृति की पूर्णता के लिये एक मात्र आधार है। ऐसी क्षमता से सम्पन्न होने के लिये ही परिष्कृत कर्मों में प्रवर्तन है। यही मानव की पाँचों स्थितियों एवं चारों आयामों में वर्तनीय है।

यथार्थ दर्शन-विहीन अन्तर्राष्ट्र; समाधान विहीन कार्यक्रम एवं कोष-विहीन व्यवस्था; धर्म-पतित, निश्चय-विहीन समाज; सच्चरित्र-रहित कुटुम्ब; सदाचरण से रिक्त

व्यक्ति सतत चिन्तातुर हैं।

धर्म का प्रत्यक्ष रूप ही सामाजिकता है। यही संस्कृति व सभ्यता है।

मानव सहज परस्परता में निर्विषमता के लिये ही संस्कार, संस्कृति व सभ्यता की अनिवार्यता है। यही उपादेयता भी है।

समग्रता के प्रति रहस्यविहीन दर्शन को धारण करने में असमर्थ अन्तर्राष्ट्र, सत्यता के संरक्षण में एवं संवर्धन प्रक्रिया में असमर्थ (राष्ट्र) व्यवस्था, सत्यता का प्रचार करने में असमर्थ समाज, सत्यता का अनुसरण करने में असमर्थ परिवार, सत्यतापूर्ण आचरण करने में असमर्थ व्यक्ति घोर क्लेश से पीड़ित है।

अवकाश (सम्भावना) से अधिक आवश्यकताओं को अपनाने से ही समस्त प्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ प्रभावशील होती हैं। ये प्रधानतः शोषण के रूप में होती है जो स्व-पर हानिकारक होती है।

तन, मन, धन रूपी साधन ही अवकाश है।

असंयत आवश्यकता के लिये साधन का कम हो जाना, संयत आवश्यकताओं में साधन का अधिक हो जाना स्वभाविक है। असंयत आवश्यकता में अपव्यय समाहित है।

मानव के लिये मानवीयता ही संयमता का सूत्र है।

मानव में रूप, बल, बुद्धि, पद, धन, कर्म, उपासना, आवश्यकता, अवसर एवं अवकाश समीचीन है।

क्रिया में न आने वाले आश्वासन, योग्यता से अधिक अधिकार, सिद्धान्त विहीन शास्त्र, आधार विहीन-विधि, दिशा विहीन आचरण ये सब क्लेश के कारण है।

विधि के आधार तीन प्रकार से गण्य हैं - (1) सत्याधार (2) कर्माधार और (3) विषयाधार।

सत्याधार को स्पष्ट करने योग्य शास्त्र के आधार पर जो विधि-विधान हैं उससे मानव को सुख, शान्ति, संतोष एवं आनन्द की उपलब्धि है, जो मानवीयता तथा अतिमानवीयता सहज वैभव सूत्र है।

सत्यता पर आधारित विधि-विधान एवं नीति ही अन्तर्राष्ट्रीयता की एकात्मकता है। यही परस्पर राज्य, राष्ट्रों की एक सूत्रता सह-अस्तित्व पूर्ण है। यही व्यक्ति समुदाय वर्गवाद से मुक्त मानव-जीवन का प्रत्यक्ष रूप है।

कर्माधार पर निर्धारित विधि-विधान सम्पन्न व्यवस्था-प्रक्रिया में स्व-पर लाभालाभ मुक्त विनिमय होता है। यह वर्ग भावना से मुक्त नहीं है।

विषयाधार पर आधारित विधि-विधान सम्पन्न शासन प्रक्रिया में स्व-पर लाभ-हानि होती है। इसमें समाज की कोई व्याख्या नहीं है। समुदाय ही इसकी सीमा है।

विवेकपूर्ण विचार, उपासना-इच्छा सहित किया गया प्रत्येक कर्म सभी स्तर पर श्रेयस्कर होता है।

दर्शन-क्षमता जागृति पर; जागृति, आकाँक्षा एवं आचरण पर; आकाँक्षा एवं आचरण शिक्षा एवं अध्ययन पर; शिक्षा एवं अध्ययन व्यवस्था पर; व्यवस्था, दर्शन क्षमता एवं समझदारी के आधार पर होना पाया जाता है।

ज्ञानानुकूल यत्न, यत्नानुकूल कार्य, कार्यानुकूल फल-परिणाम, फल-परिणाम के अनुकूल अनुभव, अनुभवानुकूल में ही ज्ञान स्पष्ट हुआ है, जो प्रसिद्ध है।

तीन प्रकार के कर्म-फलों को पाने के लिये ही मानव आद्यान्त कार्य करता है।

स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ के लक्ष्य भेद से सम्पूर्ण कर्म सम्पन्न होते हैं।

मध्यस्थ-बुद्धि योग में, सम-बुद्धि सत्कर्म में प्रवृत्त पायी जाती है। सम्पूर्ण कर्म वैविध्यताएं मानवीयता में सविरोधी स्थिति से मुक्त हो जाती है। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य

''नियम-त्रय'' का आचरण ही है।

प्रत्येक योग और वियोग में मूल्यों की प्रतीति एवं नियोजन पाया जाता है।

संयोग से भाव, भाव से क्रिया, क्रिया से संयोग यही सापेक्षता एवं व्यवहार-क्रम-चक्र है।

सामाजिक मूल्यों का निर्धारण एवं निर्वाह करने की क्षमता ने ही सामाजिकता पूर्ण व असामाजिकता सहित व्यक्तित्व को स्पष्ट किया है। यही मानव के ह्रास और विकास का परिचायक है।

उच्च और नीच प्रकार से परस्पर में भाव क्रियायें सम्पन्न होती हैं जिनसे ही उनके विकास का परिचय होता है।

उच्च भावपूर्ण परिवार, सम-मध्यस्थ-संयोगपूर्ण समाज, मध्यस्थ-सम-योगपूर्ण व्यवस्थातन्त्र एवं व्यवहार ही सर्वमंगल कार्यक्रम है।

स्पष्ट दर्शन क्षमता के बिना सत्कर्म का निर्धारण नहीं है। दर्शन क्षमता ही सम-विषम-मध्यस्थ, क्रिया-प्रक्रिया, प्रयोजन का निर्णय करती है। साथ ही आचरण, व्यवहार, व्यवस्था एवं शिक्षा प्रणाली में पूर्णता स्थापित करती है।

व्यवहार के लिये ज्ञान, विवेक और विज्ञान, उत्पादन के लिये ज्ञान सम्मत विवेक, विवेक सम्मत विज्ञानपूर्ण ज्ञान अनिवार्य है। ऐसा ज्ञान प्रत्येक जागृत व्यक्ति की क्षमता व आवश्यकता के अनुसार प्रकट एवं व्यवहृत होता हुआ पाया जाता है।

व्यवहारिक मूल्यों का निर्धारण विवेचना पूर्वक ही होता है।

विवेचनायें जीवन के अमरत्व, शरीर के नशवरत्व एवं व्यवहार नियम के अनुसार है।

व्यवहारिक मूल्य मानवीयता के अर्थ में सार्थक होते हैं। इसके आधार पर

नियम-त्रय (बौद्धिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक) सिद्ध हुई है।

मानव सहज परस्परता में किया गया आचरण एवं निर्वाह सह-अस्तित्व विधि से सार्थक तथा असह-अस्तित्व विधि से असार्थक और समस्या है।

यथार्थ ज्ञान-क्षमता का प्रत्यक्ष रूप ही मानवीयतापूर्ण आचरण है।

समझने की क्षमता ही परस्परता में ज्ञान सहज उद्घाटन है।

समझने की क्षमता व्यंजनीयता है। इकाई की मूल व्यंजनीयता सत्ता में सम्पृक्तता ही है। सम्पृक्तता की अनुभूति ही पूर्ण व्यंजनीयता है। चैतन्य ईकाई की व्यंजनीय क्षमता में गुणात्मक परिमार्जन ही संस्कार है, यही दर्शन-क्षमता एवं अनुभव क्षमता है। परिमाण एवं सीमा का दर्शन और सत्य में अनुभव प्रसिद्ध है। व्यंजनीयता क्षमता क्रम ही जागृतिक्रम को और जागृति को प्रकट करता है।

मानव दर्शक व दृश्य सह-अस्तित्व रूप में प्रकट वर्तमान है - यही दर्शन पृष्ठभूमि है।

प्रकटन को प्रमाणित करने के लिये दर्शक का रहना आवश्यक है। दर्शक ही व्यंजनीय-क्षमता से प्रतिष्ठित है।

प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। यही दृश्य राशि है।

प्रत्येक दर्शक भी दूसरे दर्शक के लिए दृश्य है। प्रत्येक इकाई अपने जागृति के अनुरूप दर्शक है।

मानव जीवन के आद्यान्त कार्यक्रम एवं आचार तीन प्रकार से गण्य है-(1) सत्याचार, (2) लोकाचार और (3) विषयाचार। ये क्रम से उत्तम, मध्यम एवं अधम की परिगणना में है।

मानवीयतापूर्ण आचरण ही अवधारणा सहज प्रमाण है। अवधारणा ही निवृत्ति

में प्रमाणित होती है। निवृत्ति ही संवेग व विवेक, संवेग व विवेक ही अनुगमन व अनुसरण, अनुगमन व अनुसरण ही उद्घाटन, उद्घाटन ही प्रकटन, प्रकटन ही प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष ही प्रमाण, प्रमाण ही अनुभूति, अनुभूति ही क्षमता योग्यता और पात्रता, क्षमता योग्यता व पात्रता ही स्थितिवत्ता, स्थितिवत्ता ही विभव, विभव ही वैभव और वैभव ही आचरण है।

दृष्टा पद ही दर्शन क्षमता का प्रतिरूप है और व्यवहार उसके अनुरूप है जो प्रसिद्ध है। विचार के अभाव में शरीर द्वारा कोई कार्य-व्यवहार सिद्ध नहीं होता या प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शरीर द्वारा किए जाने वाले संपूर्ण क्रिया-कलापों के मूल में विचार ही है। शरीर विचार नहीं है। यह विचार को प्रसारित करने का माध्यम है। इस निष्कर्ष से विचार, शरीर से अतिरिक्त है और यह चैतन्य क्रिया है।

वैचारिक क्षमता मानव की पाँचों स्थितियों में स्थित है।

इसीलिए सर्वमानव क्षमता में समान है।

वैचारिक क्षमता के परिमार्जन हेतु सत्मार्ग एवं शुभकारी योगाभ्यास प्रसिद्ध है। चेतना विकास मूल्य शिक्षा पूर्वक संस्कार में गुणात्मक परिवर्तन है यही सर्व शुभकारी है। पुनः यही वैचारिक क्षमता है। यह क्रम मानवीयता तथा अतिमानवीयतापूर्ण आचरणों से सम्पन्न होते तक परिपूर्ण व्यवस्था है। यह ''नियम-त्रय'' के पालन अनुसरण एवं अनुशीलनपूर्वक सफल है अन्यथा असफल है।

योग्याभ्यास - मिलन का अभ्यास। मिलन के अनन्तर स्वीकृति जीवन जागृति के रूप में, विकृति अमानवीयता के रूप में दृष्टव्य है।

प्रत्येक मानव प्रबुद्धता के लिये प्रयासरत है। प्रबुद्धता का प्रत्यक्ष रूप ही मानवीयता पूर्ण आचरण है। मानवीयता तथा अतिमानवीयता ही व्यवस्था पूर्वक वैभव है, पूर्ण है।

जीवन का कार्यक्रम ही कर्म है। यही आचरण है।

समृद्धि, कला और बोध के लिये आचरण मानवीयतापूर्ण मानव में पाया जाता है।

सत्य बोध एवं सहजता के लिये आचरण मानवीयता एवं दिव्य मानवीयतापूर्ण मानव में प्रत्यक्ष है, जो उनका स्वभाव है।

मानव के लिए मानवीयता एवं अतिमानवीयतापूर्ण आचरण ही नितांत उपयोगी एवं आवश्यक है।

मानव की पाँचों स्थितियाँ परस्पर पूरक हैं। इनकी एकसूत्रता ही अखण्ड सामाजिकता है। यह ''नियम-त्रय'' पालन सर्व सामान्य होने से है।

प्रत्येक आविष्कार एवं अनुसंधान व्यक्ति मूलक उद्घाटन है। यह शिक्षा एवं प्रचार के माध्यम से सर्व सुलभ हो जाता है। यही सर्व-सामान्यीकरण प्रक्रिया है।

जिसका विभव एवं वैभव है उसी का आविष्कार है क्योंकि उसके पहले उसका स्पष्ट ज्ञान मानव कोटि में था ही नहीं। उस समय में अर्थात् सन् 2000 से पहले जो समझ मानव समुदायों में रहा उसकी तुलना में मध्यस्थ दर्शन आविष्कार, अनुसंधान है।

सह-अस्तित्व में, से, के लिए प्रकटन ही आविष्कार है। आविष्कार की सामान्यीकरण प्रक्रिया ही शिक्षा यही चेतना विकास मूल्य शिक्षा है।

मानव के लिये जितना उन्नतावकाश है उतना ही पतन के लिये भी अवकाश है। पतनोन्मुखी क्रियाकलाप ही अपराध या गलतियाँ हैं। इसी का प्रत्यक्ष रूप ही दुःख, अशान्ति, असंतोष एवं असह-अस्तित्व भ्रम है।

पतनोन्मुखी जीवन की श्रृंखला में अपराध के तीन कारण दृष्टव्य है :- (1) अभाव (2) अत्याशा एवं (3) अज्ञान। इसके साथ ही राग, द्वेष, असत्य, अभिमान, भय,

आलस्य, रोग और असफलता भी है। इनका निराकरण क्रम से अभाव को उत्पादन एवं अभ्यास से, अत्याशा को विवेक से, अज्ञान को ज्ञान से, राग को विराग से, द्वेष को स्नेह से, असत्य को सत्य से, अभिमान को सरलता से, भय को अभय से, आलस्य को चेष्टा से, असफलता को पराक्रम व पुनः प्रयोग से, रोग को औषधि-आहार एवं विहार से, समाधान एवं परिहार करने की व्यवस्था है जो मानव के लिये एक अवसर है। यही आवश्यकता है।

वैज्ञानिक क्षमता का अपव्यय न होना ही अर्थ का अनर्थ न होना है।

विवेक का उपयोग हो जाना ही समाज की अखण्डता है जो स्वर्गीयता है।

विज्ञान (निपुणता, कुशलता) मानव से कम विकसित का परिमाणीकरण पूर्वक नियंत्रण करने के लिये योग्यता है जो पूर्णतया उत्पादन क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हुआ है और आंशिक रूप से व्यवहार में। जबकि विवेक स्वयं के (मानव के) विश्लेषण पूर्वक सामाजिक मूल्यों को स्पष्ट करता है।

सह-अस्तित्व में ज्ञान ही दृश्य, मानव दृष्टा, मानवत्व पूर्वक दृष्टि होना स्पष्ट है। इसलिए सह-अस्तित्व में ज्ञान, सह-अस्तित्व में व्यवहार व समाधान प्रमाणित होता है फलस्वरूप व्यवस्था प्रमाणित होती है।

व्यवहारिक मूल्य ही स्थिर मूल्य है।

मानव सम्बन्ध एवं सम्पर्क पर्यन्त व्यवहार के लिए अवसर सम्पन्न है।

मूल्य विहीन सम्पर्क एवं सम्बन्ध नहीं है।

प्रत्येक परस्परता में अपेक्षायें समाहित हैं। मूलतः यही सापेक्षता है। यही आवश्यकता है।

ज्ञानगोचर, दृष्टिगोचर के आधार पर ही प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम क्रिया का

वर्गीकरण एवं निर्धारण है।

सान्निध्य की निरंतरता का अनुभव ही प्रत्यक्ष, सान्निध्य की निरंतरता की संभावना ही अनुमान, सान्निध्य संभावना के अतिरिक्त अस्तित्व ही आगम क्रिया है।

प्रकृति की अनन्तता एवं सत्ता में पूर्णता ही अनुमानातिरिक्त अस्तित्व का प्रमाण है।

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण भेद से प्रत्यक्ष क्रियायें हैं।

सामान्य बुद्धि से स्थूल, विशेष बुद्धि से सूक्ष्म, विशिष्ट बुद्धि से कारण का प्रत्यक्षीकरण प्रसिद्ध है। इसी के आधार पर अनुमान और आगम क्रिया का भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप में रहने का प्रमाण सिद्ध होता है। रूप और गुण स्थूल; गुण और स्वभाव सूक्ष्म; स्वभाव और धर्म कारण क्रियायें है। इसलिये

व्यवहार उत्पादन कर्मों में तीन स्तर में प्रवृत्तियों को पाया जाता है :- (1) स्वतंत्र (2) अनुकरण (3) अनुसरण।

स्वतंत्र प्रवृत्तियों की क्रियाशीलता उन परिप्रेक्ष्यों में स्पष्ट होती हैं जिनके सम्बन्ध में ये विशेषज्ञता हैं।

जो विशेषज्ञ होने के लिये इच्छुक हैं उन्हें अनुकरण क्रिया में व्यस्त पाया जाता है
।

जिनमें विशेषज्ञता के प्रति इच्छा जागृत नहीं हुई है उन्हें अनुसरण क्रिया में अनुशीलनपूर्वक ही कर्म एवं व्यवहार रत पाया जाता है। ये विकास एवं अवसर के योगफल का द्योतक है। अवसर प्रधानतः व्यवस्था एवं शिक्षा ही है।

स्वतंत्र-सक्रियता स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण क्रिया की सान्निध्यानुभूति-क्षमता से; अनुकरणात्मक सक्रियता स्थूल एवं सूक्ष्म क्रिया की सान्निध्यानुभूति क्षमता से;

अनुसरणात्मक-सक्रियता स्थूल क्रिया की अनुभूति-क्षमता से सम्पन्न पायी जाती है। यही व्यंजनीयता की क्षमता में प्रत्यक्ष अन्तरान्तर है।

स्वतंत्र सक्रियता में नियंत्रण-क्षमता स्वायत्त, अनुकरण-क्षमता में स्वेच्छा से नियन्त्रित होने की क्षमता, अनुसरण सक्रियता में अनुशासित होने की क्षमता समाहित है।

सार्वभौमिक कामनानुरूप कार्यक्रम में रत होने से ही सभी स्थितियों में दोष दूर होते हैं। यही मांगल्यप्रद है।

पर-धन, पर-नारी/पर-पुरूष एवं पर-पीड़ा ही व्यवहारिक, सामाजिक एवं भौतिक उन्नति तथा जागृति में बाधक है।

राग, द्वेष, अविद्या एवं अभिमान बौद्धिक जागृति में अवरोधक सिद्ध हुए हैं।

भय, आध्यात्मिक अनुभूति (सह-अस्तित्वानुभूति) योग्य क्षमता के विकास में अवरोधक है।

प्राकृतिक वैभव के अपव्यय से ऋतु-असंतुलन एवं उससे क्लेशोदय होता है, जो प्रत्यक्ष है।

स्व-धन,स्वनारी/स्व पुरूष एवं दयापूर्ण कार्य व्यवहार तथा आचरण से सामाजिक सुख एवं संतुलन का; असंग्रह (समृद्धि), स्नेह, विद्या एवं सरलता से बौद्धिक सुख का; अभयता से आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव है। यही भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिकता का प्रयोजन, विचार एवं अनुभूति, व्यक्ति का, व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्र की एक सूत्रता, संतुलन, समाधान एवं समृद्धि है। यही सार्वभौमिक साम्य कामना है।

समस्त कर्मों से मानव ने सत्य में प्रतिष्ठा, धर्म में आरूढ़ता, न्याय में निरन्तरता एवं वस्तु की उपयोगिता का अनुभव करने की कामना एवं प्रयास किया है। जिसके लिये सत्याभिमुखी, धर्माभिमुखी, न्यायाभिमुखी तथा विषयाभिमुखी प्रयास किये हैं। यह

प्रत्यक्ष है।

भौतिक द्रव्यों का नियंत्रण, उपार्जन, उपयोग एवं सद्उपयोग, सामाजिक मूल्यों का वहन-निर्वहन, आचरण एवं निरन्तरता, सत्यता-सत्य का बोध एवं अनुभव ही प्रतिष्ठायें है। इनके बिना मानव तृप्त एवं निर्भ्रांत नहीं है।

उत्पादन और सेवा में अर्थ का उपार्जन, अर्थ के सदुपयोग में समृद्धि, संयत उपयोग एवं सद्उपयोग में संतुलन, सार्वभौमिक धर्म में समाधान, सत्य-सत्यता में अनुभव तथा आनन्द प्रसिद्ध है।

अनुभूति आनन्द ही नित्य प्रतिष्ठा; धर्म एवं न्याय सम्मत आचरण, व्यवहार, व्यवस्था, विधि एवं शिक्षा ही समाधान एवं अमर प्रतिष्ठा; विषय-प्रवृत्ति ही अल्प प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित पाया जाता है।

क्रिया, कर्म, पदार्थ, प्रक्रिया, फल और शक्तियाँ ये परस्पर पूरक हैं। क्रिया ही पदार्थ, पदार्थ ही प्रक्रिया, प्रक्रिया ही फल, फल ही शक्तियाँ, शक्तियाँ ही क्रिया एवं कर्म हैं। ये सभी पदार्थ में दृष्टव्य हैं।

श्रम, गति एवं परिणामशीलता क्रिया की, उसका परावर्तन कर्म की, अर्थवत्ता पद की, विकासशीलता प्रक्रिया की, उपयोगिता फल की, तरंग, दबाव एवं प्रभाव शक्तिवत्ता की स्थितिवत्ता को स्पष्ट करता है। ये सब पदार्थ की सीमा में पाये जाने वाले परावर्तन या परिवर्तनशील प्रकटन है।

सापेक्ष रूप से जड़ शक्तियाँ एवं अपेक्षा रूप में चैतन्य शक्तियाँ स्थितिशील हैं और निरपेक्ष रूप में अध्यात्म-सत्ता स्थिति पूर्ण है।

जड़ शक्तियाँ ताप, प्रकाश, विद्युत, आकर्षण एवं ध्वनि के रूप में; चैतन्य शक्तियाँ, आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति के रूप में प्रसिद्ध हैं। जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति की आधारपूर्ण सत्ता ही अध्यात्म है जो निरपेक्ष सत्ता है।

मध्यस्थ क्रिया सहज सत्ता में बोध एवं अनुभूति होती है।

आत्मा ही मध्यस्थ क्रिया और सत्ता ही मध्यस्थ है।

जड़ शक्तियाँ प्रधानतः गतिशील, चैतन्य शक्तियाँ संचेतनशील हैं।

अभाव, भाव और तिरोभाव की स्वीकार-क्षमता ही संवेदना है। यह क्रम से अभाव में वेदना, भाव में मानवीय संवेदना एवं अभाव के तिरोभाव पूर्वक सम्बोधना है। यही सम्यक बोध है। यही अनुभव का पूर्व लक्षण है।

अभाव भाव में परिवर्तित होने के लिये प्रयोग और उत्पादन है। भाव सहज पूर्णता के लिये आचरण, व्यवहार एवं व्ययवस्था है। अभाव का तिरोभाव भाव ही है।

भाव ही मौलिकता, मूल्य एवं अर्थ है।

प्रत्येक अर्थ का पूर्ण अर्थ अनुभव ही है। इसलिये संचेतना के अभाव में मूल्य, भाव एवं मौलिकता का निर्धारण नहीं है। संचेतना-क्षमता में ही स्थितिवत्ता की दिशा, काल, मात्रा, गति, उपयोग, गन्तव्य, योग, वियोग, ह्रास, जागृति, उचित, अनुचित एवं विधि निषेध का निर्णय एवं विवेचना करने की विशेषता निहित है। यह जब तक सार्वभौमिक रूप में शिक्षाप्रद एवं अवगाहन योग्य न हो तब तक संदिग्धता वाद-विवाद सीमा और भ्रान्तियाँ हैं। फलतः वर्ग एवं समरोन्मुखता भावी है।

निर्णायक क्षमता कारण, गुण, गणित के रूप में, विवेचना क्षमता आत्मा के अमरत्व, शरीर का नश्वरत्व एवं व्यवहार के नियमों को स्पष्ट करने की प्रबुद्धता के रूप में प्रत्यक्ष हैं।

जड़ शक्तियों की अपेक्षा में चैतन्य शक्तियाँ अधिकाधिक सक्षम हैं। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य है कि चैतन्य शक्तियों के अभाव में मानव शरीर के द्वारा सम्पादित होने वाला क्रियाकलाप सिद्ध नहीं होता है।

मानव शरीर के लिये जितना ईंधन प्रायोजित करता है, उससे अधिक मात्रा में शक्तियों का बहिर्गमन करता है।

चैतन्य शक्तियों की क्षमता जो पाँच रूप में गण्य हैं उसका मूल्यांकन एवं अनुभव उन्हीं की परस्परता में सम्पन्न होता है। आशा से सम्पन्न मन, विचार से सम्पन्न वृत्ति का अनुभव करता है। विचार से सम्पन्न वृत्ति, आशा से सम्पन्न मन का दर्शन करती है। विचार से सम्पन्न वृत्ति, इच्छा से सम्पन्न चित्त का अनुभव करती है। इच्छा से सम्पन्न चित्त, विचार से सम्पन्न वृत्ति का दर्शन करता है।

शुभ इच्छा से सम्पन्न चित्त, सत्संकल्प से सम्पन्न बुद्धि सह-अस्तित्व में अनुभवपूर्ण आत्मा जागृति का प्रमाण है। अनुभवपूर्ण आत्मा, संकल्प सम्पन्न बुद्धि का दर्शन करती है। यही अनुभव समुच्चय है। यही पूर्ण जागृति है।

अधिक जागृत, कम जागृत का दर्शन; कम जागृत, अधिक जागृत को पहचानता है। इसलिए जागृत मानव जागृति के लिए जिज्ञासु को पहचानता है और जिज्ञासु जागृत को पहचानता है।

जागृत मानव जिज्ञासु पर विश्वास करता है और जिज्ञासु जागृत मानव के साथ अनुशासित रहता है।

मानव जीवन में ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण संबद्ध विशेषतायें दृष्टव्य हैं। इन तीनों स्थितियों में सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द की ही अपेक्षा है।

मानव का स्थूल जीवन सुख व शांति की अपेक्षा में, सूक्ष्म जीवन शांति व संतोष की अपेक्षा में एवं कारण जीवन आनन्द एवं परमानन्द की प्रतीक्षा में हैं जिसके लिए यह जागृति सहज प्रमाण है। इसी के अनुकूल सर्वतोमुखी कार्यक्रम ही जागृति है। यही भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियाँ भी हैं। यह केवल मानवीयता एवं अतिमानवीयतापूर्ण कार्यक्रम पूर्वक सफल हुआ है।

जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति में पाई जाने वाली शक्तियों की प्रयुक्ति एवं नियोजन उद्भव, विभव एवं प्रलय में ही है। इससे अधिक परिप्रेक्ष्य में गुण नियोजन एवं प्रयुक्ति नहीं है।

सम्पूर्ण नियोजन का आद्यान्त अभीष्ट जागृति पूर्णता ही है।

इकाई सहज जागृतिपूर्णता में ही संबोधन-क्षमता प्रकट हुई है।

उद्भव, विभव, प्रलय में से विभव ही सर्वस्वीकृत घटना है। जागृति पूर्णता में ही विभववत्ता की प्रतिष्ठा पाई जाती है। उसके पूर्व योग, वियोग और संयोग, सापेक्षता में व्यवहार, कर्म, विहार रत पाये जाते है। ये सब स्थितियाँ जागृति सहज प्रमाण क्रमान्तर का द्योतक है।

कर्म फलवती है। भ्रमित मानव फल भोगते समय में परतंत्र है। इसी सार्वभौमिक नियमवश ही मानव कर्म और उसकी फलवत्ता के प्रति निर्भ्रम होने के लिए बाध्य है।

मानव द्वारा भ्रमित अवस्था में किया गया कर्म एवं उसका फल के प्रति संदिग्धता, सशंकता तथा अज्ञानता का होना दृष्टव्य है जबकि यह मानव में, से, के लिए वान्छित नहीं हैं।

विभव में प्रयुक्त गुण ही मध्यस्थ, प्रलय में प्रयुक्त विषम, उद्भव में प्रयुक्त सम है। यही क्रम से परमार्थ, स्वार्थ, परार्थ कर्म है। व्यवहार के रूप में निर्भ्रांत, भ्रांत एवं भ्रान्ताभ्रान्त अवस्था में प्रत्यक्ष है।

सम, विषम, मध्यस्थ शक्तियाँ क्रम से रजोगुण, तमोगुण एवं सत्वगुण हैं।

सत्वगुण सम्पन्न व्यक्ति का आचरण व्यवहार के साथ दया, आदर, प्रेम जैसे मूल्यों सहित विवेक व विज्ञान क्षमतापूर्ण होता है।

रजोगुण सम्पन्न व्यक्ति में धैर्य, साहस, सुशीलता जैसे मूल्यों सहित विज्ञान का

सद्उपयोग होता है।

तमोगुण सम्पन्न व्यक्ति में ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान एवं अहंकार जैसे अवांछनीय विकृतियों सहित विज्ञान क्षमता का अपव्यय होता है।

सत्य-सम्बद्ध-विधि-व्यवस्था, विचार, आचरण, व्यवहार, शिक्षा, दिशा, कर्म एवं पद्धति के अनुसार वर्तना ही मानव में व्यष्टि व समष्टि का धर्म पालन है।

मानव का स्व-धर्म पालन ही अखण्डता सार्वभौमता है और सीमा विहीनता है, जो स्वयं में सह-अस्तित्व, सामाजिकता, समृद्धि, संतुलन, नियंत्रण, संयमता, अभय, निर्विषमता, सरलता एवं उदारता है। इसी में दया, स्नेह, उदारता, गौरव, आदर, वात्सल्य, श्रद्धा, प्रेम, कृतज्ञता जैसे सामाजिक स्थिर मूल्यों का वहन होता है। यही मानव की चिर वाँछा भी है। यही स्वस्थ सामाजिकता की आद्यान्त उपलब्धि है।

सच्चरित्र पूर्ण व्यक्तियों की बाहुल्यता के लिये जागृत मानव का सहयोग व प्रोत्साहन, उनकी समुचित शिक्षा व संरक्षण एवं उनके अनुकूल परिस्थितियाँ ही विश्व शान्ति का प्रत्यक्ष रूप है। इसके विपरीत में अशान्ति है, जो स्पष्ट है।

''व्यवहार-त्रय'' नियम का पालन ही सच्चरित्रता है। यही मानव की पाँचों स्थितियों में प्रत्यक्ष गरिमा है। यही सहज निष्ठा है और इसी में विज्ञान और विवेक पूर्णरूपेण चरितार्थ हुआ है। फलतः स्वस्थ व्यवस्था-पद्धति एवं शिक्षा-प्रणाली प्रभावशील होती है।

''व्यवहार-त्रय'' का तात्पर्य जागृत मानव के द्वारा किया गया कायिक, वाचिक, मानसिक व्यवहार से है।

समस्त परिणाम, परिमार्जन एवं परिवर्तन पाँच प्रकार से दृष्टव्य है :-

(1) सह-अस्तित्व रूपी अस्तित्व में (2) विकासक्रम (3) विकास (4) जागृति

क्रम (5) जागृति पूर्णता।

पदार्थावस्था परिणाम पूर्वक यथास्थिति पूरक रूप में प्रयोजनशील है। प्राणावस्था परिणाम पूर्वक स्पन्दन, पुष्टि सहित रचनाशील यथास्थिति व पूरक के रुप में प्रयोजनशील है। जीवावस्था परिवर्तन, परिणाम सहित जीने की आशा पूर्वक यथास्थिति पूरकता सहित प्रयोजनशील है। मानव ज्ञानावस्था में गण्य है। यह परिमार्जन पूर्वक जागृति और जागृति पूर्णता सहज परम्परा है। यही यथास्थिति पूरकता रूप में प्रमाण होना पाया गया है।

भोग एवं बहु भोगवादी जीवन में मानव स्वयं को स्वस्थ बनाने तथा अग्रिम पीढ़ी के आचरणपूर्वक जागृति के लिये शिक्षा प्रदत्त करने में समर्थ नहीं है और न हो सकता है। यह ज्वलन्त तथ्य ही विचार परिवर्तन एवं परिमार्जन का प्रधान कारण है। भोग संस्कृति का आधार नहीं है।

संस्कृति के अभाव में सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था का असंदिग्ध होना संभव नहीं है। इसलिये यही क्षोभ, संताप, आवेश, रोष, आक्रोश, द्वन्द्व, प्रतिद्वन्द्व, आतंक, भय, उद्वेग के रूप में स्पष्ट है। यह मानव का इष्ट नहीं है। इसलिये वह इष्ट की ओर प्रगति के लिये बाध्य है। यही मानव में विचार परिवर्तन एवं परिमार्जन की संभावना है। साथ ही संस्कारों में गुणात्मक उदय के लिये अवसर है।

संस्कारों में गुणात्मक उदय का प्रत्यक्ष रूप ही है ''नियम-त्रय'' का पालन। इसी विधि से संयत प्रवृत्ति पूर्वक सामाजिक मूल्यों की निर्वाह क्षमता स्वभाव सिद्ध हो जाता है। संयत प्रवृत्ति का तात्पर्य सार्वभौम व्यवस्था सहज प्रमाण है। इस विधि से जीकर देखा गया है।

यही सार्वभौमिक कामना भी है।

परिमार्जित विचार ही विवेक पूर्ण विज्ञान है। यही निपुणता, कुशलता एवं पाण्डित्य के रूप में सिद्ध हुआ है।

प्रत्येक सिद्धि प्रयोग, व्यवहार एवं अनुभव पूर्वक हुई है, जो प्रत्यक्ष है।

भोग परिणाम में पशु मानव एवं राक्षस मानव दृष्टव्य है।

विचार परिणाम में जागृत मानव एवं देव मानव प्रत्यक्ष है।

दिव्य मानव में कोई परिणाम, परिमार्जन एवं परिवर्तन की संभावना नहीं है क्योंकि दिव्य मानव गन्तव्य स्थित है। उसकी निरन्तरता ही भावी है।

विज्ञान एवं विवेकपूर्ण क्षमता ही पदार्थ का रूप, रूप में निहित गुण, गुण में निहित प्रभाव, प्रभाव में निहित स्वभाव, स्वभाव में निहित क्षमता, क्षमता में निहित गति, गति में निहित विधि, विधि में निहित व्यवस्था, व्यवस्था में निहित प्रभुता, प्रभुता में निहित विभुता, विभुता में निहित विभव, विभव में निहित विश्व, सत्ता में समाहित विश्व का अनुमान होता है। यही परिमार्जनशीलता की उपलब्धि है। प्रमाण के पूर्व अनुमान ज्ञातव्य है।

विज्ञान का उर्ध्व एवं अधोमुखी प्रयोग हुआ है जबकि विवेक केवल उर्ध्वमुखी प्रयोग की ही प्रतिष्ठा है। विज्ञान के उर्ध्वमुखी प्रयोग का तात्पर्य - उर्ध्व मुखी प्रयोग के रूप में दूरसंचार सुलभ होना स्पष्ट है और अधोमुखी प्रयोग से सामरिक तंत्र (यान्त्रिक युद्ध तंत्र) होना स्पष्ट हुआ। धरती में प्रदूषण के मूल में खनिज कोयला, खनिज तेल, विकिरणीय द्रव्यों का ईंधनावशेष के रूप दृष्टव्य है। विवेक सम्मत विज्ञान शक्ति के सही प्रयोग में भय एवं आतंक जैसी अनिष्ट घटना नहीं होती है। विवेक सहज प्रयोजन की स्थिति में अनिष्ट सिद्ध नहीं होता है।

विवेकपूर्ण क्षमता का उदय होना या न होना पाया जाता है न कि विवेकपूर्ण क्षमता का अपव्यय। जबकि विज्ञानपूर्ण क्षमता का अपव्यय एवं सद्व्यय प्रत्यक्ष है।इस प्रकार सिद्ध होता है कि विज्ञान का नियंत्रण विवेक से ही है, न कि विज्ञान का नियंत्रण विज्ञान से।

विकास की ओर प्रगति ही उर्ध्वमुख, ह्रास की ओर विवशता अधोमुख है, जो स्पष्ट है।

विकास की प्रत्येक स्थिति उससे अधिक विकास की श्रृंखला-सम्बद्ध है। इसलिये प्रत्येक स्थिति अग्रिम विकास के लिये सम्बद्ध है।

विकास की ओर प्रगति में उत्साह, प्रसन्नता तथा हर्ष का अनुभव है। इसके विपरीत में ह्रास की ओर गति से खिन्नता, निरूत्साह, विवशता एवं क्लेश है।

उर्ध्वमुखी विज्ञान शुद्ध रजोगुण तथा सत्व-गुणपूर्वक विभव कार्य में प्रसक्त है, जो विज्ञान की वास्तविक चरितार्थता है। साथ ही इसके विपरीत में विज्ञान में मलिन रजोगुण तथा तमोगुणपूर्वक संहार एवं अतिभोग प्रसक्त है जो विज्ञान के पूर्ण दुरूपयोग का द्योतक है।

मानवीयतापूर्ण मानव और उससे अधिक जागृतिशीलता ही उर्ध्वमुखी जीवन में गण्य है जिसमें दया, सरलता, त्याग, तप, परोपकार, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा गौरव जैसी मौलिक मूल्यवत्ता आचरित होती है। यही स्व-पर, मांगलिक है।

दुष्चरित्र में लिप्त जीवन का भय-त्रस्त होना विवशता है, जो स्व-पर पीड़ा का प्रधान कारण है। यही मानव में निहित अमानवीयता का भय है। यही असामाजिकता एवं असहअस्तित्व का मूल रूप है।

मानव-कुल के साथ स्नेह करने की क्षमता ही विश्वास एवं संतोष की निरन्तरता है। यही अग्रिम विकास के लिये उत्साह एवं प्रवर्तन भी है।

विश्वासविहीन सम्बन्ध सफल नहीं है। सम्बन्ध रहित स्थिति में कर्म सिद्धि नहीं है।

प्रत्येक सामाजिक मूल्य का निर्वाह विश्वास पूर्वक ही सफल हुआ है।

न्यायपूर्ण व्यवहार, समाधान पूर्ण विचार, एवं सत्यानुभूतिपूर्ण जीवन में क्लेशों

का अत्याभाव होता है, यही सर्वमंगल है।

विवेकानुगामी विज्ञान के प्रयोग से ही मानव की प्रत्येक अवस्था का जीवन सर्वांग सुन्दर है। यही सर्व मानव कल्याणकारी कर्म- प्रवृत्ति एवं उपलब्धि है, यही सर्वमंगल है।

ज्ञान सम्मत विवेक व विज्ञान सम्पन्न कर्म परम्परा ही लोकमंगल कर्म है। यही मानव की चिर आशा, आकाँक्षा, आवश्यकता एवं अवसर है।

''सर्व शुभ हो, नित्य शुभ हो''

अध्याय - 2

उपासना - विवेक

ज्ञान :- अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान

विवेक :- जीवन के अमरत्व, शरीर के नशरत्व व्यवहार के नियम ही ज्ञान सहित, मानव लक्ष्य, जीवन लक्ष्य में प्रमाणित होना

मानव लक्ष्य :- समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व सहज प्रमाण

जीवन लक्ष्य :- सुख, शांति, संतोष, आनंद

अध्याय - 2

उपासना - विवेक

मानव जीवन में उपासना एक महत्वपूर्ण भाग है। उपासना ही मूल प्रवृत्तियों का परिमार्जन एवं परिवर्तन प्रक्रिया है। यही अध्ययन संस्कार एवं स्वभाव परिवर्तन भी है।

उपायपूर्वक सहवास पाना ही उपासना सहज अवधारणा है जिसके लिये परिश्रम (परिमार्जित श्रम) एवं अभ्यास है। अभ्यास एवं परिश्रम से ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण की सत्यवत्ता अध्ययन पूर्वक स्पष्ट है। जिससे तत्सम्बन्धी पदार्थ, नियति-क्रम, शक्ति, महिमा, विभूति एवं नियम सम्बन्धी अनुसंधान, (अनुगमन पूर्वक अवधारणा) शोध प्रसिद्ध है। अनुसंधान, भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक भेद से है। अनुसंधान प्रक्रिया मनन, चिन्तन संकल्प एवं अनुभूति के रूप में प्रत्यक्ष है।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण (दृष्टा) का तात्पर्य देखने, समझने, प्रयोग करने, व्यवहार करने एवं अनुभव करने योग्य क्षमता के सम्पन्न होने से है।

उपासनायें कूटस्थ, रूपस्थ एवं आत्मस्थ भेद से होती हैं। पूर्ण अनुभव के लिये की गई प्रक्रिया कूटस्थ उपासना है। महिमा सहित रूप सान्निध्य के लिए की गयी प्रक्रिया रूपस्थ उपासना है। प्रत्यावर्तन प्रक्रिया ही आत्मस्थ उपासना है जिसके लिये मानव बाध्य है। इसलिये प्रवृत्तियों का परिमार्जन ही मानव जीवन का कार्यक्रम है। मानव में पूर्णता एवं परिमार्जनशीलता की अपेक्षा प्रत्येक स्थिति में पाई जाती है। परिमार्जनशीलता ही निपुणता एवं कुशलता पाण्डित्य है। पूर्णता ही पांडित्य है। पांडित्य से अधिक ज्ञान एवं निपुणता, कुशलता से अधिक व्यवहार एवं उत्पादन नहीं है। परिमार्जनशीलता उत्पादन व व्यवहार में पाई जाती है। पांडित्य ही प्रबुद्धता, प्रबुद्धता ही शिक्षा एवं व्यवस्था है। प्रबुद्धता से परिपूर्ण होते तक उपासना अत्यन्त सहायक है।

देवी-देवता तीन प्रकार से गण्य हैं :- भू, अन्तरिक्ष और दिव्य स्थानीय। यह

उनकी विचरण क्षमता पर आधारित है। चैतन्य इकाई, सूक्ष्म व कारण क्रिया के सम्मिलित रूप है। यही जीवन-पुंज है। यही देवी-देवता हैं। स्थूल शरीर प्राण वायु से, सूक्ष्म क्रिया चित्त से एवं कारण क्रिया आत्मा से नियंत्रित पाई जाती है। सूक्ष्म और कारण का वियोग नहीं है, यही अमरत्व का साक्षी है। सूक्ष्म और कारण का संकेत केवल स्थूल शरीर को संचालित करने में स्पष्ट होता है, साथ ही यह अनिवार्य भी है। स्थूल-शरीर रहित अवस्था में बुद्धि के संकेतानुसार ही सूक्ष्म क्रियायें सम्पन्न होती है।

तीनों प्रकार के देवता द्यौ स्थलीय (असीम अवकाश में विचरने वाले) अंतरिक्ष स्थलीय (एक ब्रम्हाण्ड के अवकाश में विचरने वाले) और भू-स्थलीय (एक भूमि के वातावरण में ही विचरने वाले) होते हैं। ये ही क्रम से दिव्य आत्मा, देवात्मा एवं भूतात्मा हैं।

आचरणपूर्णता, पूर्ण जागृति सम्पन्नता के कारण दिव्यात्मा, क्रियापूर्णता से सम्पन्न सतर्कता सहित होने के कारण देव आत्मा एवं विषयों में तीव्र आसक्ति एवं सशंकता सहित भय वश भूतात्मा हैं। राक्षस मानव एवं पशु मानव ही देहानन्तर भूतात्मा, मानवीयतापूर्ण मानव व देवमानव ही शरीरानन्तर देवात्मा तथा दिव्य मानव ही शरीर त्यागने के अनन्तर दिव्यात्मा की कोटि में गण्य है।

भूतात्मायें अधिभौतिक तत्वों में, देवात्मायें अधिदैविक तथ्यों में तथा दिव्यात्मायें अध्यात्म में तादात्म होती है। इसलिये तीन कोटियाँ स्थापित पाई जाती हैं।

अधिभौतिकी सीमा में उत्पादन प्रधान व्यवहार, अधिदैविक सीमा में व्यवहार प्रधान उत्पादन, अध्यात्मपूर्ण जीवन में अनुभवमूलक विचार, व्यवहार एवं उत्पादन क्रम प्रत्यक्ष है। इसलिये व्यवहार एवं व्यवसाय अध्यात्मपूर्ण जीवन में संयत एवं नियंत्रित, अधिदैविक जीवन में व्यवस्थित एवं अनुशासित तथा भौतिक जीवन में अनानुशासित एवं अव्यवस्थित पाया जाता है। इसलिये अध्यात्मपूर्ण जीवन में ही मानव के चारों आयामों की एकसूत्रता पाई जाती है।

''विषय-चतुष्टय'' के लिये अधिभौतिक तत्वों में, ''ऐषणा-त्रय'' के लिये अधिदैविक (सामाजिक एवं व्यवहारिक) मूल्यों में, दिव्य मानव अध्यात्म में तादात्म्य पाया जाता है जिसके लिये ही क्रम से आसक्ति, उपासना एवं निष्ठा प्रयुक्त होती है।

परमात्मा (सत्ता) में सम्पूर्ण जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति सम्पृक्त है इसलिये ''यह'' में अनुभव पर्यन्त जागृति के लिये ये बाध्य हैं।

भ्रमित मानव सापेक्षता से पीड़ित, आवेशित या सम्बद्ध है, जो प्रत्यक्ष है। यह सापेक्षता तब तक दृष्टव्य है जब तक इकाई भ्रम-मुक्त न हो जाय, क्योंकि भ्रम-मुक्त अवस्था ही उसका परमोत्कर्ष है।

नियंत्रण ही नियम, प्रेरणा, संयोजन, सापेक्षता, श्रम, गति, परिणाम, क्रिया, आचरण, योग, वियोग, संयोग, पद, अवस्था एवं नियंत्रण है, जो दृष्टव्य है।

दिव्यात्माओं की उपासना ही विद्या,देवात्माओं की उपासना ही उपविद्या, तथा भूतात्माओं की उपासना ही क्षुद्र विद्या है। दिव्यात्माओं की उपासना जागृतिपूर्वक भ्रम-मुक्ति सहित बौद्धिक समाधान एवं भौतिक समृद्धि के लिये, देवात्माओं की उपासना बौद्धिक समाधान एवं भौतिक समृद्धि के लिये एवं भूतात्माओं की उपासना केवल भौतिकता के लिये किया जाना प्रसिद्ध है।

सभी जीवन अपने अपने स्वभाव से सम्पन्न हैं। यही उनकी प्रतिष्ठा है। इससे अधिक उनमें से स्वभाव प्रकटन संभव नहीं है।

केवल भौतिकता ही मानव के लिये पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई क्योंकि मानव में पाये जाने वाले चार आयाम केवल भौतिक द्रव्यों से तृप्त नहीं होते हैं। इसलिये मानव जब तक उत्पादन, व्यवहार, विचार एवं अनुभूति की एकसूत्रता से परिपूर्ण न हो जाय तब तक वह प्रयोग, प्रयास, अभ्यास के लिये बाध्य है।

दिव्यात्माओं की उपासना में विवेक पूर्ण विज्ञान, तप (दृढ़ निष्ठा), निश्चय,

निर्णय तथा संकल्प की क्षमता उपलब्ध होती है। यही उनकी उपासना का प्रत्यक्ष फल है। देवात्माओं की उपासना से अर्धविवेक, विज्ञान, धैर्य, साहस, स्नेह, विश्वास, त्याग तथा जीवन-क्रियाकलाप में नियंत्रण, संयम पाया जाता है यही देव उपासना की प्रत्यक्ष उपलब्धि हैं। भूतात्माओं की उपासना से अविवेक पूर्ण विज्ञान, अधैर्य, दुस्साहस, राग द्वेष, सशंकता तथा अनियंत्रित जीवन-क्रियाकलाप पाया जाता है। यही तीनों उपासनाओं के फलस्वरूप ही क्रम से सजगता सतर्कतापूर्ण, जागृति सतर्कतापूर्ण एवं अजागृति सशंकता सहित स्थितियों में दृष्टव्य है। यही निर्भ्रान्त, भ्रान्ताभ्रांत एवं भ्रान्त अवस्थायें हैं।

रासायनिक द्रव्यों की संगठित शरीर-रचना जिसमें मेधस समाहित रहता है उसी से मांस पदार्थ है और वनस्पतियों में से शाक पदार्थ उपलब्ध है। इन दोनों में रासायनिक द्रव्य अधिकांशतः समान पाया जाता है। ऐसे रासायनिक द्रव्य की समानता रहते हुए भी मांस-शरीर-रचना-यंत्रीकरण तथा उसका उपयोग, शाक बिम्ब की रचना-प्रक्रिया व उपयोग में मौलिक अन्तर है। जो निम्नांकित है :-

<u>**मांस-शरीर**</u>	<u>**शाक बिम्ब**</u>	
1. **बीज-** अन्डज, पिन्डज	उद्भिज	
2. **प्रयोजन-** चैतन्य इकाई आस्वादन एवं स्वागत का माध्यम	औषधि एवं आहार का माध्यम (जीव एवं मानव का)	सहज प्रक्रिया
3. **यंत्रीकरण-** मेधस सहित रचना	मेधसविहीन रूप-रचना	शरीर
4. **उपयोगिता-** चैतन्य इकाई संचालनपूर्वक आस्वादन का माध्यम योग्य	चैतन्य का संचालन के लिये अयोग्य, उपयोग एवं पूरकता के लिये योग्य	का क्रिया

5. **अवसर-**चैतन्य इकाई के परिवर्तन एवं परिमार्जन का अवसर	रासायनिक उर्मि पूर्वक परिवर्तन का अवसर है।	संस्कार,

<u>दूध</u>	**<u>मद्य</u>**	
1. **उत्पत्ति-** जीव शरीर में पूर्वक ममता प्रार्दुभूत निष्पत्ति है।	मधुरता सहित वस्तुओं की विकारपूत प्रक्रिया सहित आसवीकृत रस द्रव्य है।	आहार पाचन स हि त
2. **उपयोगिता-** मानव शरीर पुष्टि प्रदायी पोषक, त्राणद, प्राणद एवं तथा मेधस का संतुलनकारी रस द्रव्य है।	औषधि के रूप में उपयोगी; पेय के रूप में त्राण, प्राण, शोषक, पुष्टिहर, भ्रम, भ्रांति, उत्तेजना-कारक, हदय, व मेधस का असंतुलनकारी द्रव्य है।	के लिये स्निग्ध, ह द य
3. **प्रभाव-** सामान्य गतिदायी पोषकदायी है।	आवेश पूर्ण गति प्रदायी है।	व
4. **उपादेयता -** संवेदनशीलता वृद्धिकारी तथा पोषक	संवेदनशीलता का क्षयकारी व शोषक है।	क ा है।
5. **अनिवार्यता-** मानवीयता अतिमानवीयता में	अनिवार्य नहीं है।	त थ ा है।

मांसाहारी शिष्टता में बलपूर्वक वध एवं शोषण घटना समायी हुई है।

अमानवीयता की सीमा में शाकाहारी व मांसाहारी मानव में शिष्टता, आचरण, व्यवहार एवं प्रवृत्ति का वैविध्य की स्थिति में रहते हुए प्रयोजन की स्थिति में प्रधानतः साम्य पाया जाता है, यह जीवों में भी प्रत्यक्ष है इसलिये यह तथ्य स्पष्ट है मानवीयता जब

अध्ययनगम्य होती है, समझ में आती है तो मांसाहारी व शाकाहारी दोनों मानवीयता के पक्ष में सहमत होते हैं। जब निष्ठान्वित होते हैं तब मांसाहारी भी शाकाहारी हो जाते हैं। जागृत मानवीय शिष्टता में विश्वास एवं प्रत्याशा भी साम्य है। यही सत्यता एक बिन्दु है जहाँ समस्त प्रकार की शिष्टताएं मानवीय शिष्टता के निर्वाह हेतु चिर-प्रतीक्षित है। यही एक संभावना स्थल है जो निरन्तर संचेतना के उत्कर्ष का अन्तराल है।

मानवीयता तथा अतिमानवीयता में शाकाहार की मौलिकता स्पष्ट हो जाती है। मानव में शिष्टता की एकात्मिकता (वैविध्य विहीनता) मानवीयता पूर्वक ही प्रतिष्ठित पायी जाती है। इसलिये उपासना में सार्वभौमिक मूल्यों का अवगाहन करना ही प्रधान उपादेयता है।

जिन उपासना पद्धतियों के द्वारा उत्पन्न शिष्टतायें मानव में वर्ग-भावना को स्थापित करती हैं वे सभी अभ्युदय के लिये पूर्णतः सहायक नहीं है क्योंकि अन्ततोगत्वा वर्ग-भावना समरोन्मुखी है ही। समरविहीनता के लिये सार्वभौमिकता अनिवार्य तथ्य है।

समस्त उपासनाओं के मूल में लक्ष्य साम्य है वह अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था है। वह केवल सर्व मंगल ही है। क्योंकि सर्व मंगल की कामना के बिना स्वयं का मांगल्य सिद्ध नहीं है।

अन्य काम्य कामनायें केवल मंगलमयता की भास प्रदायी हैं न कि अनुभवदायी। इसलिये सर्वमंगल कामनानुरूपी कार्यक्रम तथा उसकी अनुसरण योग्य क्षमता पर्यन्त मानव प्रयास करने के लिये बाध्य है।

सार्वभौमक मानवीयतापूर्ण पद्धति से ''नियम-त्रय'' (बौद्धिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक) के आचरणपूर्वक ही आर्थिक एवं साम्प्रदायिक वर्ग-भावनाओं से मुक्त होने की संभावना एवं मुक्ति है। इसी में समस्त वर्ग-भावना विलीन हो जाती है। इसलिये उपासना अभीष्ट समझदारी जागृति पूर्वक सार्थक होता है जो जागरण ही है।

मानव में शक्तियाँ क्रिया; इच्छा एवं ज्ञान शक्ति ही है, जो उनकी अर्हताएँ हैं।

अर्हताएँ प्रत्येक इकाई की जागृतिशीलता, जागृति पर आधारित पाई जाती है।

जागृतिशीलता के लिये ही उपासनायें हैं, न कि ह्रास के लिये।

जागृति-क्रम प्रक्रिया प्रगति में पीड़ा नहीं है। यही जीवन का संगीत (एक सूत्रता) है। इसके विपरीत क्रिया-प्रक्रिया एवं ह्रास में ही सम्पूर्ण प्रकार की पीड़ायें हैं, जो दुख हैं।

बौद्धिक, व्यवहारिक एवं भौतिक पीड़ायें है। ये पीड़ा क्रम से समस्या, अपराध, अक्षमता एवं अपव्यय के रूप में दृष्टव्य हैं। यही अजागृति का प्रत्यक्ष रूप है।

सतर्कता एवं सजगता में न्यूनता ही सम्पूर्ण क्लेश का कारण है। सतर्कता एवं सजगता मानव इकाई में पायी जाने वाली क्षमता, योग्यता एवं पात्रता के आधार पर ही प्रकट होती हुई देखी जा रही है। इसलिये -

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धेन्द्रियों द्वारा शक्तियों का अपव्यय न होना, साथ ही सद्व्यय होना ही **क्रिया शक्ति** की जागृति है। सद्व्यय एवं अपव्यय का निर्धारण मानवीयता की सीमा में ''नियम-त्रय'' के रूप में है।

अंतःकरण मूल प्रवृत्तियों अर्थात् आशा, विचार, इच्छा व ऋतम्भरा का अपव्यय न होना मानव चेतना, अति मानव चेतना विधि पूर्वक ही है और यही सद्व्यय है। यही **इच्छा शक्ति** का जागरण है।

सम्यक-बोध एवं अनुभूति पूर्णता ही ज्ञान प्रकटन क्षमता है। यही ज्ञानशक्ति का जागरण अथवा पूर्ण जागरण है। यह ''जागृति-त्रय'' मानवीयता एवं अतिमानवीयता में प्रत्यक्ष है। यही मानव जीवन की चरमोत्कर्ष उपलब्धि है। सशक्त उपासना की उपादेयता यही है, यही समग्र मानव की कामना है। यही सर्वमंगल है।

जीवन-जागृति का प्रत्यक्ष स्वरूप ही विवेक पूर्ण विज्ञान का प्रयोग है। यही सतर्कता, अखण्ड सामाजिकता, प्रबुद्धता, निर्विषमता, सह-अस्तित्व, शिक्षा, विधि,

व्यवस्था, सभ्यता, संस्कृति, बौद्धिक समाधान, भौतिक समृद्धि और जीवन जागृति की निरन्तरता है।

पूर्ण जागृति पर्यन्त प्रत्येक मानव इकाई प्रयास एवं उपासना के लिये बाध्य है। इसी के फलस्वरूप मूल प्रवृत्तियों का परिमार्जन होता है, जिसके कारण विशिष्ट और शिष्ट मानसिकता एवं विचार चिन्तन-बोध क्षमता, अनुभवपूर्णता प्रत्यक्ष होती है। यही श्रेष्ठ उपासना की उपलब्धियाँ हैं। यही अध्ययन पूर्णता है।

जो जिस विधा का पूर्ण ज्ञाता कार्य, व्यवहार तथा अनुभव अभ्यासी है उसमें उसकी निरन्तर क्रियाशीलता पाई जाती है। अस्तु, **क्रिया की पूर्णता उस क्रिया की निरन्तरता है।** इसलिये वह उदासीनता का या दूसरे को उदासीन करने का कारण सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि पूर्णता के लिये क्रियाशीलता है। पूर्णता क्रिया की निरन्तरता है।

जो पूर्णता के लिए क्रियाशील है, पूर्ण होने के अनन्तर उसकी निरन्तरता होती है जैसे क्रियापूर्णता व आचरण पूर्णता। इसलिये अपूर्णता के मापदंड से पूर्णता का परिमाणीकरण अथवा अजागृत से जागृत का परिमाणीकरण संभव नहीं है, क्योंकि गुरूमूल्य में लघुमूल्य समाता है न कि लघुमूल्य में गुरूमूल्य। यह मानव में प्रत्यक्ष है। जैसे, प्रत्येक मानव अपने से कम विकसित का परिमाणीकरण करने में सफल हुआ है जो प्रत्यक्ष है। इसी के आनुषंगिक मानव कम विकसित प्रकृति के साथ उत्पादन करता हुआ प्रत्यक्ष है और अधिक का ज्ञान भी उसे हुआ है। इसलिये समान के साथ व्यवहार करने के लिये बाध्य हुआ है। यही सामाजिकता की बाध्यता है। यही मानव जीवन सहज गौरव और गरिमा है। यही गरिमा समान के साथ व्यवहार, अधिक जागृति के लिये अभ्यास करने के लिये प्रेरणा है। यही वास्तविक उपासना है।

विवेक अर्थात् मानव लक्ष्य और जीवन मूल्य अर्थात् समाधान समृद्धि ही उपासना का प्रत्यक्ष फल है जिसमें सामाजिकता स्वाभाविक रूप से समाहित रहती है।

अनुभव बोध का परावर्तन ही असंग्रह (समृद्धि), उदारता एवं दया है। उदारता

एवं दया सहज मौलिक मूल्यों का अनुरंजन ही सामाजिकता का प्राण तत्व है। यही सामाजिक संगीत है। इसी के लिये मानव तृषित है। विवेक ही बौद्धिक समाधान एवं सामाजिक मूल्यों को निर्वाह पूर्वक प्रकट करता है।

विवेक व विज्ञान ही परोक्ष ज्ञान (सद्व्यवहारिक ज्ञान) का प्रधान लक्षण है। अनुभव ही परोक्ष ज्ञान की अन्तिम स्थिति है। इसके पूर्व अनुमान अधिकार ही प्रसिद्ध है। वस्तुस्थिति, वस्तुगत, स्थिति सत्य में ही अनुभव है।

परोक्ष ज्ञान के बिना नित्यानित्य, युक्तायुक्त, न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य,इष्टानिष्ट, दृष्टादृष्ट तथा परोक्ष ज्ञानाधिकार सिद्ध नहीं होता है।

नित्यानित्य ज्ञानाधिकार के बिना मानव में स्वधर्म के प्रति निष्ठा नहीं पाई जाती है। मानव धर्म ही सुख, सुख ही न्यायपूर्ण आचरण, न्यायपूर्ण आचरण ही मानवीयतापूर्ण एवं ''नियम-त्रय'' का पालन है। यही मानव का स्वधर्म है। मानव सुख धर्मी है।

मर्यादा विहीन इकाई नहीं है। जैसे जीवों में स्वभाव मर्यादा, वनस्पतियों में गुण मर्यादा एवं पदार्थों में रूप मर्यादा-भंग नहीं होती है। यही उनकी गरिमा है। इसी प्रकार मानव में समाधान सुख ही धर्म है, धर्म ही मर्यादा है। यही उनकी गरिमा एवं विश्वास है। मर्यादा का प्रत्यक्ष रूप ही विश्वास है।

''विश्वासविहीन सम्बन्ध एवं सम्पर्क में सुख नहीं है।'' सम्बन्ध एवं सम्पर्क विहीन मानव नहीं है। यही बाध्यता स्वधर्म के लिये है। इसके पालन में जो अक्षमता, अयोग्यता एवं अपात्रता है - वही दुख, क्लेश, समस्या और अजागृति है।

स्वधर्म में सम्पन्नता एवं पालन करने योग्य क्षमता, योग्यता एवं पात्रता से परिपूर्ण होते तक ज्ञानार्जन करने के अर्थ में अध्ययन रूपी उपासना का अभाव नहीं है।

मानव के स्वधर्म में ही मत, सम्प्रदाय, वर्ग तिरोहित हो जाते हैं। यही समर्थ उपासना की प्रत्यक्ष गरिमा है। ''यही मांगलिक है।'' साध्य, साधक, साधन, इन तीनों

का उपासना में समाहित रहना अनिवार्य है। इनकी एक सूत्रता ही उपासना की सफलता है अन्यथा असफलता है। प्रत्येक स्थिति में प्राप्त शक्ति व साधनों का सदुपयोग करना ही उसकी अग्रिम जागृति है। यही उपासना है।

ऐसी कोई शक्ति व साधन नहीं है जिसका नियोजन या उपयोग न हो, क्योंकि शक्ति या साधन का संचय व्यवहारिक नहीं है।

आत्मरति में विवेक; विवेकपूर्ण बुद्धि-मूलक विज्ञान; विज्ञानपूर्ण कला, रचना, विवेचना और विचार, विवेचनापूर्वक आस्वादन एवं स्वागत, भावपूर्ण मन निरंतर संतुलित एवं समाधानित हैं। इसी के फलस्वरूप आत्मा में परमानन्द आप्लावन, बुद्धि में आनन्द-आप्लावन, चित्त में संतोष-आप्लावन, वृत्ति में शान्ति-आप्लावन, मन में सुख-आप्लावन प्रसिद्ध है।

इन्द्रिय कार्यकलाप तथा इन्द्रियों का कार्यक्षेत्र ही अपरोक्ष ज्ञान की सीमा है। इस व्यापार में चतुर्विषय सीमान्तवर्ती प्राप्तियाँ हैं। इसके अतिरिक्त और उपलब्धियाँ इसमें नहीं है।

विषयों की सीमा में मानव सीमित नहीं है क्योंकि मानव में चार आयाम प्रसिद्ध हैं।

मानव ही उत्पादन, व्यवहार, विचार एवं अनुभूति सम्पन्न होने के लिये बाध्य है। यही आवश्यकता, अवसर, संभावना एवं व्यवस्था है।

संयमतापूर्वक ही मानव के द्वारा प्रत्येक परिप्रेक्ष्य में किये गये क्रियाकलाप में से गरिमापूर्ण वैभव प्रकट होता है। जैसे-

सत्यबोध सहित सत्य बोलने का अभ्यास करने से भय व अविश्वास की निवृत्ति, हर्ष तथा उत्साह का उदय होता है।

अहिंसा पर अधिकार पा लेने से विरोध से भय मुक्ति और स्नेह व उदारता का

उदय होता है। कृत, कारित, अनुमोदित, कायिक, वाचिक, मानसिक भेदों से हिंसा में भागीदारी न करना = अहिंसा

अपरिग्रह में निष्ठा से दयनीयता तथा हीनता का नाश एवं धैर्य व धृति उदारता का उदय होता है।

अस्तेय प्रतिष्ठा से धूर्तता व विकलता का नाश तथा तुष्टि व संतोष का उदय होता है। अस्तेय का तात्पर्य चोरी न करना है।

विश्व के प्रति मूल्य (भाव) की प्रतिष्ठा से इष्ट और साधक के मध्य विषमता का अभाव होता है। साथ ही **तत देवता का स्वभाव प्रवेश** होता है।

शब्द के अर्थ अर्थात् मन्त्रार्थ का तदरूपतापूर्वक स्मरण करने के अभ्यास से उसका अर्थ एवं स्वभाव गम्य होता है। सभी सार्थक शब्द मन्त्र है।

अधिक जागृत में समर्पण से अभिमान व अहंकार का उन्मूलन तथा विद्या व सरलता का उदय होता है।

शरीर संवेदना संयत रहने से मन की पवित्रता, मन की पवित्रता से मनोबल का लाभ होता है।

स्व-शरीर मोह नष्ट होने से संसार के प्रति मोह दूर होता है। सर्वशुभरूपी आप्त कामना पूर्ण बुद्धि से ही विश्व के प्रति उदारता, दया, कृपा, करूणा का प्रसवन तथा विश्व की आधारभूत सत्ता में सह-अस्तित्व ज्ञान एवं अनुभव होता है।

संयमता के बिना बौद्धिक मूल प्रवृत्तियों की परिष्कृति, बुद्धिबल, सामाजिक मूल्यों की अनुभूति, चैतन्य क्रिया का दर्शन, समाधान और संयमता सिद्ध नहीं होती है।

''कृतज्ञता ही संयमता का आद्यान्त आधार है।''

कृतघ्नता में असंयमता प्रत्यक्ष है। **शैशव एवं किशोरावस्था में ही कृतज्ञता**

का रोपण आवश्यक है।

दयापूर्ण विचार निरन्तरता से कार्पण्य दोष का निवारण होता है, परम आल्हाद का अनुभव होता है।

जिस लक्ष्य में अन्तःकरण (मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि) को तदाकार करें उसी में वह प्रखर होता है। जैसा जल में तदाकार होने से संताप का नाश और तृप्ति का अनुभव होता है।

अग्नि में तदाकार होने से रोग का नाश और आरोग्य लाभ होता है।

वायु में तदाकार होने से अस्थिरता का नाश और स्थिरता का लाभ होता है।

प्रकाश में तदाकार होने से अज्ञान का नाश और ज्ञान का उदय होता है।

परहित चिन्तन से उत्साह व आल्हाद की वृद्धि होती है।

परोपकार से यश होता है।

समस्याओं को सुलझाने से गौरव होता है।

सबके कल्याण चिन्तन से प्रतिभा का विकास होता है।

पर गुण गणना अभ्यास से स्वदुर्गुणों का नाश होता है।

पक्षपात बुद्धि पर-पक्ष के सद्गुणों को ग्रहण करने में असमर्थ होती है क्योंकि वह ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, उपेक्षा और भ्रम से मुक्त नहीं है।

जागृति क्रम में स्व-पर पक्ष की स्थिति नहीं पाई जाती है इसलिये उसमें श्रृंखला-क्रम, नियम, न्याय सिद्ध होता है। समस्या का कारण ही अप्रबुद्धता है। उसका निवारण केवल प्रबुद्धता है, जो जागृति ही है। यही उपासना की प्रत्यक्ष गरिमा है।

उपासना के लिये वातावरण का महत्व अपरिहार्य है, जिसमें से मानव कृत

वातावरण ही प्रधान है, जो शिक्षा व व्यवस्था के रूप में ही है।

प्रबुद्धता से परिपूर्ण शिक्षा ही व्यक्तित्व के लिये दिशा प्रदायी महिमा है। उसके समुचित संरक्षण, संवर्धन के लिये योग्य व्यवस्था ही प्रभुसत्ता है।

प्रबुद्धता की सामान्यीकरण प्रक्रिया ही गुणात्मक परिवर्तन का प्रत्यक्ष रूप है। एक व्यक्ति जो उपासना पूर्वक प्रबुद्ध होता है, वह शिक्षा और व्यवस्था पूर्वक सामान्य हो जाता है।

गुणात्मक परिवर्तन के नजरिया न होने की स्थिति में मात्रा के आधार पर मूल्यांकन करने में भ्रमित मानव तत्पर होता है। यही वर्ग संघर्ष एवं समर है।

मानवीयता पूर्ण व्यवहार सहज ''नियम-त्रय'' का आचरण ही व्यक्तित्व है। ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में सक्रिय योगदान ही कर्त्तव्य है। यही पुरूषार्थ है। यही प्रबुद्धता है।

उपासना व्यक्ति में व्यक्तित्व तथा कर्त्तव्य का प्रत्यक्ष रूप प्रदान करती है क्योंकि उपासना स्वयं में शिक्षा एवं व्यवस्था सहज है। इसलिये यही प्रबुद्धता है। प्रबुद्धता ही मानव में शिक्षा एवं व्यवस्था है।

सत्य व सत्यता में वैविध्यता नहीं है।

प्रतीकता में अनेकता है ही। उसके द्वारा केवल भ्रम ही इंगित होता है।

प्रतीक को ही लक्ष्य समझने वाली बौद्धिक स्थिति में साम्प्रदायिकतापूर्ण आवेश, अभिमान और अहंकार पाया जाता है।

प्रतीक-लक्ष्यवादी उपासना क्रम अपूर्णता की सीमा तक गौण एवं असामाजिक सिद्ध हुई है, क्योंकि उसमें मानव लक्ष्य का स्पष्टीकरण एवं प्राप्ति नहीं है। इसलिये विषमताएं हैं। ऐसे प्रतीक स्थान, जाति, भाषा, कला, चित्र, रचना, प्रतिमा, स्मारक और

शब्द के भेदों से गण्य हैं।

बौद्धिकता ही मानव के व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष रूप है, न कि शरीर, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाने वाली बौद्धिक क्षमता का ही आदर-उपेक्षा, सम्मान-तिरस्कार, मान है। अस्तु बौद्धिकता ही मूल प्रवृत्तियाँ, संकेत ग्रहण एवं प्रसारण क्षमता है, यही आवश्यकता, इच्छा, विचार, आसक्ति या अनासक्ति, परिमार्जन, प्रभाव, तत्परता एवं बौद्धिकता है।

मानव के लिये सहज समर्थ उपासना एक अनिवार्य कार्यक्रम है जो अमानवीयता से मानवीयता, मानवीयता से अतिमानवीयता की प्रतिष्ठा स्थापित करती है।

सह-अस्तित्व में अनुक्षण-विक्षण-वृत्ति से सहजावृत्ति होती है।

क्षण-क्षण मध्यस्थ व्यवधान का तिरोभाव ही अनुक्षण-विक्षण वृत्ति है।

अनुक्षण का तात्पर्य प्रत्येक क्षण में लगातार सह-अस्तित्व चिन्तन, विचार क्रम में प्रमाणिकता का सहज प्रमाण प्रस्तुत हो जाता है, यही सहजावृत्ति है।

सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति की सम्पृक्तता का ज्ञान ही (पूर्ण-दर्शन) क्षण-क्षण मध्यस्थ व्यवधान का तिरोभाव है। यही भ्रमित भाव व अभाव का तिरोभाव है। यही सहज प्रतिष्ठा व अवस्था है।

सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति सहज ज्ञान न होने से और अनुभव मूलक ज्ञान न होने से भय और प्रलोभनवश समस्त भ्रममूलक कार्य-व्यवहार, सोच-विचार को बनाये रखता है। यही सम्पूर्ण क्लेश का कारण है।

काल, क्रिया की अवधि है। इसी अवधि में आरोपित विचार व इच्छा ही असहज एवं निरारोपित विचार व इच्छा ही सहज है।

मानव इकाई में ही जागृति के क्रम में भी निरारोपण क्षमता पाई जाती है। भ्रमवश

आरोपण होता है।

जो जैसा है उससे अधिक, कम अथवा नासमझना ही आरोपण है । यही अज्ञान है। यही अक्षमता है। यही भ्रम है।

सत्ता में सम्पृक्त जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति की स्थिति-शीलता व सत्ता सहज पूर्णता के सम्बन्ध में ही आरोप या निरारोण क्रिया सम्पन्न होना पाया जाता है।

प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म समाहित है। यही उसकी कार्यवत्ता है। इसी की गणना, परिमाण, प्रयोजन ज्ञान ही प्रकृति के प्रति निर्भ्रमतापूर्ण क्षमता का द्योतक है। यही प्रमाण है। यही सहजता है।

सम्पूर्ण क्रियायें मूलतः रूप और शब्द भेद में दृष्टव्य हैं।

पूरकता के बिना इकाई में अग्रिमता नहीं है।

पूर्णता पर्यन्त इकाई पूरकता, उपयोगिता के लिए प्रवृत्त है।

पूरकता ही इकाई में ह्रास व विकास के लक्षणों को प्रकट करती है। यही प्रधान उपादेयता भी है।

इकाई में प्रकट होने वाले शब्दादि गुण ही सापेक्ष शक्तियाँ हैं। गुणविहीन इकाई नहीं है। इसलिये

मानव में सहज कामना का अभाव नहीं है। सहजता ही धर्म है। यही सुख, शान्ति, संतोष एवं आनन्द है। यही धारणा को स्पष्ट करता है, जो प्रत्यक्ष है।

प्रत्येक कर्म-फल ही मानव के सुख का पोषक व शोषक सिद्ध हुआ है।

सत्य और सत्यता के अनुभव-क्रम में व्यवधान नहीं है क्योंकि अनुभवक्रम-व्यवस्था सघन है। जागृति की कड़ियाँ सघन हैं। इसलिये-

सहजता आरोप से मुक्त है। आरोप ही न्यूनातिरेक मूल्यांकन है। स्वयं की न्यूनातिरेक मूल्यांकन क्रिया ही असहजता है।

स्वयं का मूल्यांकन ''ता-त्रय'' की सीमा में होता है।

''ता-त्रय'' की सीमा में न हो ऐसा मानव इस पृथ्वी पर नहीं है।

धर्म का वियोग नहीं है क्योंकि यह धारणा है। इसका प्रत्यक्ष रूप ही मानवीयता एवं अतिमानवीयता पूर्ण आचरण है जो सहजता का प्रधान लक्षण है। इसलिये अमानवीयता वादी आचरण ही असहज है।

प्रकृति अपने में सम्पूर्णता के साथ वर्तमान है। यही अवधि है। इसलिये पूर्ण में समायी है। यही पूर्ण में सम्पूर्णता सहज सह-अस्तित्व है। यही सम्पूर्णता का नित्य वर्तमान और ज्ञानावस्था के मानव में पूर्णता का प्रसव है। यही जागृति के लिये बाध्यता है।

मानव के बौद्धिक क्षेत्र में पायी जाने वाली अनावश्यक कल्पनाओं का निराकरण ही दर्शन-क्षमता में गुणात्मक परिमार्जन है। यही गुणात्मक संस्कार-परिवर्तन, शिक्षा एवं जीवन के कार्यक्रम का योगफल है।

दर्शन-क्षमता का उत्कर्ष ही अनुक्षण विक्षण है। यही मध्यस्थ क्रिया की क्षमता है। मध्यस्थ क्रिया ही दृष्टा है।

मध्यस्थ क्रिया का चरमोत्कर्ष ही सम व विषम क्रिया का पूर्ण नियंत्रण है। यही क्षमता क्षण-क्षण मध्यस्थ व्यवधान से मुक्ति है।

संस्कार पूर्वक ही बौद्धिक व्यवस्था-प्रक्रिया -क्षमता के आनुषंगिक है मानव सहज ऐषणा एवं विषयों की सीमा में प्रवृत्ति व निवृत्ति पूर्वक व्यस्त होना पाया जाता है जो प्रत्यक्ष है।

आत्मा (मध्यस्थ क्रिया) के आनुषंगिक बौद्धिक प्रक्रिया व व्यवस्था में सत्य-

संकल्प एवं सत्य-कल्पनापूर्ण मानसिकता की स्थिति पाई जाती है जो प्रसिद्ध कर्म उपासना ज्ञान पूर्ण है। यही क्षमता देव व दिव्य मानवीयता को प्रकट करती है। यही पूर्ण जागृति है।

ऐषणासक्त बौद्धिक व्यवस्था में मानवीय तथा देव मानवीय स्वभाव प्रकट होता है। उसी के अनुरूप में मानसिक वातावरण की स्थितिशीलता है। ऐसी क्षमता ही सामाजिक चेतना ही सजगता एवं सतर्कता से परिपूर्ण होना पाया जाता है।

विषयासक्त प्रवृत्ति व प्रक्रिया में अमानवीय आचरण होता है जो पाशविकता तथा दानवीयता के रूप में दृष्टव्य है। इनमें उसी के योग्य मानसिकता पाई जाती है। यही लुप्त-सुप्त कल्पना का कारण है। यही अजागृति तथा अपूर्ण सतर्कता का द्योतक है।

श्रेय (जागृति) जिज्ञासु होने पर ही लुप्त-सुप्त कल्पनायें परिमार्जित होती है। फलतः दानवी व पाशवी प्रवृत्तियों से उदासीनता स्थिर होती है। साथ ही विवेकोदय होता है।

श्रेय जिज्ञासा का उदय स्व-संस्कार, विधि-विहित अध्ययन तथा उसके अनुकूल वातावरण में होता है।

विधि-विहित-अध्ययन निपुणता, कुशलता व पांडित्य ही है।

अध्ययन एवं वातावरण ही संस्कार परिवर्तन के लिये समर्थ व्यवस्था है, जिसका गुणात्मक परिवर्तन ही आत्मबोध के लिये जिज्ञासा है।

आत्मबोध ही सत्य जिज्ञासा का प्रधान लक्षण है। इसलिये-

अवधारणा ही अनुगमन तथा अनुशीलन के लिये प्रवृत्ति है, जो शिष्टता के रूप में प्रत्यक्ष होती है।

प्रगति के लिये अवधारणा अनिवार्य है।

जागृति के लिये अवधारणा एवं ह्रास के लिये आसक्ति प्रसिद्ध है। यही क्रम से निवृत्ति व अनावश्यकीय प्रवृत्ति है।

अवधारणा ही सद्विवेक है। सद्विवेक स्वयं में सत्यता की विवेचना है जो स्पष्ट है। मूलतः यही सर्वशुभ एवं मांगल्य है।

अनुभव की अवधारणा सत्य बोध के रूप में; अवधारणा (सम्यक-बोध) ही सत्य-संकल्प है। यही परावर्तित होकर शुभकर्म, उपासना तथा आचरण में फलित रूप में प्रत्यक्ष है। इसी का परावर्तित मूल्य ही धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा और करूणा के रूप में प्रत्यक्ष है।

सत्य में ही सम्यक-बोध होता है। असत्य ही कल्पना एवं भास होता है।

हीनता, दीनता और क्रूरता से युक्त कर्म अशुभ होता है।

स्व-मूल्य ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्तुषि है। इसलिये

असत्य, अभिमान तथा दर्प से मुक्त; सत्य, सरलता, सहजता तथा सौजन्यता से युक्त कर्म व उपासना श्रेय कारक है।

सत्य कामना की निरन्तरता से लक्ष्य की अवधारणा होती है। ज्ञान में ही उत्पादन, व्यवहार, विचार एवं अनुभूति प्रत्यक्ष है।

ज्ञान, विवेक सम्मत विज्ञान ही है जो पूर्ण है।

सत्य और सत्यता में दृढ़ता ही श्रेयमय जीवन है।

सत्यानुभूति ही सबका अभीष्ट है।

शरीर से सम्पन्न होने वाले समस्त क्रियाओं का संचालन मन ही मेधस द्वारा करता है। मेधस से सभी नाड़ियाँ नियंत्रित हैं।

शब्द का मूल रूप मन ही है। मेधस पर मन आस्वादन एवं स्वागत भावपूर्ण तरंगों का प्रसारण, संचालन नियंत्रण करता है उसके मूल में शब्द ही है।

जागृति की ओर गति हेतु नियंत्रणात्मक शब्द ही मंत्र है। लक्ष्य-प्राप्ति-योग्य-क्रम प्रक्रिया ही नियंत्रण है। शब्द में जो भाव (मूल्य) है वही उसका अर्थ है। सार्थक शब्दों का अर्थ ही जागृति की ओर गति है क्योंकि शब्द का अर्थ अस्तित्व में वस्तु है।

भाव में जो उपयोगपूर्ण अनिवार्यता है वही उसका महत्व है। उपयोग पूर्ण अनिवार्यता में जो निश्चित दिशा है वही उसकी दृढ़ता है। यही सम्यक संकल्प है। सम्यक संकल्प में जो पूर्णता है वही अनुभव है जो क्रम से मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा में पाई जाने वाली सुसंस्कृत मौलिक क्रियायें है। भाव का तात्पर्य होने से है।

क्रिया शक्ति कासा, इच्छा शक्ति आकूति तथा ज्ञान शक्ति मेधा नामक दिव्य बुद्धियाँ प्रत्यक्ष है जिनके उदय से ही मनोबल, बुद्धि-बल तथा आत्मबल प्रमाणित होता है।

शक्ति-त्रय-जागरण (इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति तथा ज्ञान शक्ति जागरण) के बिना त्याग (भ्रममुक्ति) और प्रेम प्रमाणित नहीं होता।

शरीरमय जीवन के लिये मानवेतर प्राणियों की तथा मनोमय, बुद्धिमय और आत्ममय जीवन के लिये मानव मात्र की सृष्टि है।

भ्रममुक्ति (त्याग) एवं प्रेममय जीवन के बिना स्व-पर-कल्याण नहीं होता।

कल्याण का तात्पर्य जागृति सहज निरन्तरता है।

स्व-पर कल्याणकारी कर्म, उपासना एवं ज्ञान के बिना शान्ति पूर्ण नहीं होता।

विरागमय जीवन में अभाव का अभाव हो जाता है। विराग ही आत्म-लक्ष्य कारक होता है।

आत्म-लक्ष्य के प्रभाव से आत्म-बोध होता है।

आत्म-बोध होने से आत्म-दीपन होता है।

आत्म-दीपन होने से आत्म-विश्वास होता है।

आत्म-विश्वास होने से अज्ञान का क्षय होता है।

अज्ञान का क्षय होने से आत्म-प्रतिष्ठा होती है।

आत्म-प्रतिष्ठा होने से पर-वैराग्य होता है।

पर-वैराग्य होने से साम्राज्य सिद्धि होती है।

साम्राज्य सिद्धि से परम ऐश्वर्य एवं पूर्ण तृप्ति होती है।

ऐश्वर्य प्राप्ति से सहजावृत्ति होती है।

सहजावृत्ति से भ्रम-मुक्ति का अनुभव होता है।

भ्रम-मुक्ति का अनुभव ही मानव के लिये चरम पुरूषार्थ है।

यही पूर्ण जागृति और दृष्टा पद प्रतिष्ठा है।

''नित्य शुभ हो, सर्व शुभ हो''

अध्याय - 3

सह-अस्तित्ववादी विज्ञान

1. सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान
2. सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी
3. व्यापक वस्तु पारगामी, पारदर्शी व्यापक वस्तु में सम्पृक्त सम्पूर्ण प्रकृति (इकाईयां) त्व सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी ।
4. पूरकता, उपयोगिता
5. संबंध, मूल्य, मूल्यांकन, संतुलन

अनुक्रमणिका

अध्याय	विषय वस्तु	पृ.क्र.
1.	परमाणु संरचना एवं अणु रचना	67
2.	विकासक्रम, विकास	73
3.	परमाणु में विकास	76
4.	मनःस्वस्थता का स्वरूप	83
5.	सह-अस्तित्व स्थिर है, विकास और जागृति निश्चित है	90
6.	अनुभव और जागृति की स्थिरता और निश्चयता	92
7.	ऊष्मा और धरती का संतुलन	97
8.	स्थिति-गति	112
9.	मात्रा	118
10.	गुण	136
11.	बल-शक्ति (स्थिति-गति)	140
12.	परावर्तन-प्रत्यावर्तन	151
13.	दबाव, प्रवाह, तरंग, विद्युत चुम्बकीय बल	163
14.	देश, दिशा, दूरी, विस्तार आयाम, कोण	173
15.	काल	186
16.	प्राणावस्था, मानव शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में मानव	189
17.	ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय	204
18.	दृष्टा, कर्त्ता, भोक्ता	211

1. परमाणु संरचना एवं अणु रचना

परमाणु संरचना को पहचानने की कामना मानव में सुदूर विगत से ही पायी जाती है।

मानव विघटन विधि से मूल वस्तु तक पहुँचने के लिए सोच, विचार, प्रयोग किया। विघटन के अंत में कोई निश्चित मूल वस्तु की अपेक्षा भी बनी रही।

उक्त मानसिकता के साथ प्रयोग करता हुआ मानव इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि किसी भी वस्तु को विघटित करते रहेंगे तो कोई ऐसी स्थिति में पहुँचेंगे जहाँ विघटित इकाईयाँ स्वचालित रूप में कार्य करता हुआ समझ में आता है। ऐसी कार्यरत इकाई को हम परमाणु कहते हैं। यह सब कैसे कार्यरत है इसको समझने की इच्छा भी मानव में बनी रही है।

परमाणु के मध्य में एक या अधिक अंश और उसके सभी ओर परिवेशों में घूमता हुआ एक या अधिक अंश होने की व्यवस्था है। इससे कम में परमाणु की बात बनती नहीं। मध्य या परिवेश में अंश की संख्या बढ़ती जाये, यह मानव कल्पना में आ ही जाती है।

इस संदर्भ में दो मुख्य प्रश्न ध्यान में आये - 1. परमाणु अंश परस्परता में पहचान कैसे बना पाये ? 2. पहचानने के उपरांत वे व्यवस्था में क्यों हो गये ? इस सोच को आगे बढ़ाने पर समझ में आया कि सहअस्तित्व ही इसका प्रधान कारण है, क्योंकि व्यापक वस्तु ऊर्जा में ही संपूर्ण एक एक वस्तु डूबी, भीगी, घिरी है। व्यापक वस्तु इन सब में पारगामी है। इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं बड़ी से बड़ी इकाई का व्यापक में संपृक्त रहने के आधार पर ऊर्जा सम्पन्न रहना स्पष्ट हुआ। ऊर्जा संपन्नतावश ही बल संपन्नता एवं चुम्बकीय बल संपन्नता होना समझ में आता है। इस बल संपन्नतावश ही सूक्ष्म परमाणु अंश में परस्परता को पहचानने और व्यवस्था में भागीदारी करने की प्रवृत्ति है। एक दूसरे की पहचान को इस बल के प्रमाण के रूप में स्वीकार करने के लिए मानव का होना आवश्यक है। मानव ही प्रवृत्ति, कार्य, फलन को पहचानने के सहज अधिकार से संपन्न है। इसी क्रम में मानव जब एक दूसरे को पहचानते हैं, वहाँ व्यवस्था के रूप में ही अपने को प्रस्तुत करते हैं। जहाँ-जहाँ इस अर्थ को पहचानने में चूक किये रहते हैं, अव्यवस्था के रूप में कार्य व्यवहार करते हुए समस्या का कारण बनते हैं। इस तरह यह समझ में आता है कि प्रत्येक परमाणु अंश (व्यापक में संपृक्त होने के आधार पर) एक दूसरे को पहचानने के फलस्वरूप ही व्यवस्था में कार्यरत हैं। व्यवस्था का

कार्यरूप निश्चित आचरण ही है।

उक्त प्रकार से प्रत्येक परमाणु अंश भी ऊर्जा सम्पन्न होने के फलस्वरूप एक दूसरे को पहचानना स्वाभाविक होता है, इस पहचानने का प्रयोजन संयुक्त रूप में आचरण करना, इसे एक शाश्वत नियम के रूप में समझा गया। इससे यह भी सूत्र निकलता है कि ऐसे पहचानने के आधार पर ही गठन-संगठन होना और गठन-संगठन का व्यवस्था के अर्थ में प्रमाणित होना, नित्य वर्तमान है। इस प्रकार व्यापक वस्तु में ही संपूर्ण एक-एक वस्तुएँ अविभाज्य होना और इसे सहअस्तित्व के रूप में समझ पाना सुलभ हो गया है। इस क्रम में सहअस्तित्व नित्य प्रभावित होना, हम मानव को स्वीकार होता है।

सह अस्तित्व ही मूल सूत्र और व्यवस्था का आधार हुआ। हर स्थिति गति के मूल में सहअस्तित्व सुस्पष्ट है। इस प्रकार सहअस्तित्व ही विविध कार्य (क्रिया), उन-उन के आचरण का आधार होना सुस्पष्ट हुआ।

परमाणुओं में कार्यरत अंशों के संख्या भेद होने से ही आचरण भेद होना पाया गया। ऐसे आचरण भेद के आधार पर ही परमाणु की प्रजाति और प्रजातियों की संख्या का निर्धारण करने का मानव ने प्रयास किया। इस धरती पर 108 प्रजातियों के परमाणु होने का दावा मानव अभी तक कर चुके हैं और प्रजाति के परमाणु को खोज करने की आशा बनाये हुए हैं।

परमाणु को इस प्रकार समझने पर व्यवस्था केन्द्रित मानसिकता में हम मानव स्पष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप, मानव अपने में सहज व्यवस्था को पहचानने को तत्पर होना सहज रहा। इस क्रम में मानवीयतापूर्ण आचरण को समझना मानव के लिए सहज हो गया। इससे मूल्य, चरित्र, नैतिकता का संयुक्त अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन मानव परंपरा में, से, के लिए व्यवस्था का आधार होना पाया जाता है।

इसी तथ्यवश पशु-संसार, वनस्पति-संसार और खनिज संसार - ठोस, तरल, विरल रूप में जितने भी प्रजाति गणित है, सभी के मूल में परमाणु ही है तथा जीवन भी परमाणु है। हर प्रजाति का परमाणु निश्चित आचरण करता है। इसलिए मानव भी (जो जीवन और शरीर का संयुक्त रूप है) निश्चित आचरणपूर्वक व्यवस्था में जीना चाहता है। परमाणु

संरचना की महिमा आचरण में ही स्पष्ट होना और आचरण अपने में क्रिया के रूप में होना सहज रहा।

परमाणु रचना के संदर्भ में यह भी स्पष्ट होता है कि परमाणु अंश एक दूसरे के सहअस्तित्व में ही प्रमाणित होते हैं। असीम अवकाश (व्यापक) में अलग रहने वाला परमाणु अंश व्यवस्था रूपी आशय को प्रमाणित किये नहीं रहता है, इसलिए असीम अवकाश में घूर्णन रूप में कार्य करता हुआ, दूसरे अंश की तलाश में रहता है। अंततः वह किसी दूसरे परमाणु में समाहित हो जाता है, या दूसरे परमाणु अंश के साथ निश्चित परमाणु बना लेता है। इससे यह पता लगता है कि परमाणु गठन के उपरांत ही व्यवस्था का प्रकाशन, व्यवस्था प्रकाशित होने के क्रम में आचरण का प्रकाशन होता है। यही भौतिक, रासायनिक और जीवन क्रियाकलाप के रूप में स्पष्ट है।

परमाणु संरचनाऐं एक से अधिक अंशों पर आधारित रहना स्पष्ट हो चुकी है, यह भी स्पष्ट हो चुकी है कि हर प्रजाति का परमाणु स्वचालित रहता है। इनका आचरण निश्चित होता है।

हर परमाणु की रचना मध्यांश तथा परिवेशों में कार्यरत अंशों के रूप में समझ में आती है। परिवेशों में जितने भी अंश कार्य कर रहे हैं, उतने अंश मध्य में होते ही हैं, उससे अधिक होना भी संभावित है। परिवेशों का मतलब मध्यांश के सभी ओर चक्कर काटता हुआ अंशों से है। ऐसे परिवेश एक व एक से अधिक होते हैं। ये परिवेश चार से अधिक होने पर घटने और चार से कम होने पर बढ़ने की संभावना सदा-सदा बनी रहती है। ऐसे परमाणु विभिन्न संख्यात्मक स्थितियों में अपने-अपने प्रजाति के स्वरूप में विद्यमान रहते हैं। इन परमाणुओं में निहित मध्यांशों की संख्या के आधार पर भार निर्भर रहता है। इसी स्वरूप में निहित भार वश एक परमाणु दूसरे परमाणु को पहचानते हुए एकत्रित होते हैं, इसे हम अणु कहते हैं। ऐसे अणु ठोस, तरल, विरल रूप में पाये जाते हैं। ठोस रचनाएँ धरती जैसे बड़े-बड़े रचना के रूप में स्पष्ट हो चुकी हैं। तरल वस्तु ही रासायनिक संसार की आरंभिक वस्तु मानी जाती है। यह सब यौगिक विधि से घटित होते हैं। इसमें मानव का कोई योगदान नहीं होता, मानव केवल इसको अध्ययन करता है। अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि इनके साथ सहज कार्य व्यवस्था को पहचानना संभव हो पाता है। रसायन द्रव्यों के आधार पर ही पुष्टि-तत्व,

रचना-तत्व के योगफल में प्राणकोषाओं का क्रियाकलाप स्पष्ट होता है।

भौतिक रासायनिक क्रियाकलाप के मूल में परमाणु और अणु ही क्रियाकलाप करता हुआ पहचानने में आता है। इस प्रकार अणु अपने स्वरूप में निरंतर व्यवस्था के रूप में ही काम करता है। व्यवस्था के रूप में काम करने का प्रमाण व्यवस्था क्रम में आगे की स्थिति गति स्पष्ट होने से है (वर्तमान होने से है)।

प्रत्येक परमाणु और अणु अपने प्रजाति का एक सीढ़ी होना पाया जाता है। सीढ़ी होने का तात्पर्य उसकी यथास्थिति, उसकी निरंतरता से ही है। जैसे दो अंश के परमाणु के रूप में एक यथास्थिति है। यही एक सोपान है। इनका निश्चित आचरण होना ही इनका वैभव है। ऐसा निश्चित आचरण होना ही, आगे सोपान का आधार होना बन जाता है, बना ही रहता है। विभिन्न संख्यात्मक अंशों वाले परमाणु, अणुओं का निश्चित आचरण स्थापित हुआ ही रहता है। यही एक अद्‌भुत स्वयंस्फूर्त व्यवस्था स्वरूप, मानव के समक्ष सुस्पष्ट है।

ऐसे भौतिक अणु-परमाणु रासायनिक क्रियाकलाप में भागीदारी करता हुआ प्रत्येक स्थिति गति के रूप में अध्ययन गम्य है। इन सभी अणु परमाणुओं का सुस्पष्ट प्रयोजन, धरती जैसी बड़ी-बड़ी रचना के रूप में स्पष्ट होता है। यह इस बात का द्योतक है कि धरती पर रासायनिक क्रिया आरंभ होने के पहले जितने प्रजाति के परमाणु अणु होना आवश्यक है, यह नियति सहज विधि से ही संपन्न हुआ रहता है। नियति सहज विधि का तात्पर्य ही सहअस्तित्व विधि से है। सभी प्रजाति के परमाणु-अणु से संपन्न होने के उपरांत ही यौगिक प्रवृत्ति व प्रक्रियायें संपन्न होती रहती है। इस धरती पर इसका गवाही सुस्पष्ट है।

उक्त सभी प्रकाशन, पदार्थावस्था में अणु परमाणु प्रजाति के आधार पर होना, अणु परमाणुओं की प्रजातियाँ परमाणु अंशों की संख्या पर निर्भर रहना सुस्पष्ट है। अंशों की संख्या बदलना और बदलने के फलस्वरूप ही परिणाम है। ऐसे परिणाम निरंतर बने ही रहते हैं। इसी क्रियाकलाप का नाम है प्रस्थापन-विस्थापन। परमाणुओं में प्रस्थापन-विस्थापन, परिणाम सहज आशय को पूरा करने के लिए ही बना रहता है। इसी में एक दूसरे के साथ पूरक होने की प्रक्रिया का आशय भी संपन्न हुआ रहता है। किसी भी परमाणु से कुछ अंश विस्थापन होने से पूर्व वह परमाणु आवेशित रहना पाया जाता है, आवेशित होने के फलस्वरूप

ही किसी परमाणु से विस्थापित होना संभव होता है। वह अंश किसी परमाणु में समा जाता है। इसी क्रिया का नाम प्रस्थापन है। इस प्रकार विस्थापित होने के बाद, विस्थापित परमाणु स्वभाव गति में होता है, प्रस्थापित परमाणु प्रस्थापित अंश को समा लेने के बाद उत्सवित होकर स्वभाव गति प्रतिष्ठा में होता है। स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही हर परमाणु, अणु, अणु रचनाऐं निश्चित आचरण को संपन्न करता हुआ स्पष्ट होता है। निश्चित आचरण ही व्यवस्था का प्रमाण है। इस क्रम में विकास का आशय समाहित रहता है।

2. विकासक्रम, विकास

विकास क्रम में अनेक प्रजाति के अणु, परमाणु, अणु रचित रचनाऐं सुस्पष्ट हैं। जैसे धरती एवं अनेक ग्रह-गोल अस्तित्व में विद्यमान है। ये सभी रचनाऐं ठोस, तरल, विरल के रूप में ही वर्तमान हैं। इस धरती पर ये तीनों स्थितियाँ सुस्पष्ट हैं। इनमें से तरल वस्तु के रूप में जो पानी है, वही सर्वप्रथम यौगिक क्रिया का वैभव है। पानी का धरती के संयोग के आधार पर अम्ल और क्षार होना पाया जाता है। इनका निश्चित मात्रा तक उदय होने के बाद ही ब्रह्माण्डीय ऊष्मा के संयोजन से, प्रतिबिंबन (परस्परता में पहचानने का आधार) प्रभाव से पुष्टि तत्व व रचना तत्व के रूप में द्रव्य रचनायें होना पानी में पाया जाता है। इसके मूल रूप को 'काई' कहा जाता है। ऐसे काई के अनन्तर ही प्राणकोषाओं से रचित रचनायें एककोशीय, द्विकोशीय, बहुकोशीय विधि से घटित हो चुकी है। यह एक रचना में विकास क्रम को प्रदर्शित करता है। यह धरती अपने में मृदा, पाषाण, मणि, धातु के रूप में छोटी-बड़ी रचना विद्यमान है। यौगिक क्रिया वैभव के रूप में प्राणकोषाओं से रचित रचनाओं को वनस्पति संसार कहते हैं। ये सभी वनस्पति संसार धरती से अभिन्न रहते ही हैं, धरती के साथ जुड़े ही रहते हैं। इससे यह पता लगता है कि धरती के रूप में वैभवित द्रव्यों के संयोजन से ही यौगिक क्रिया वैभव संपन्न होना और इसके मूल स्वरूप से भिन्न व्यक्त होने का उत्सव होना होता है। **यही रासायनिक उर्मि है। रासायनिक द्रव्यों के उत्सव को हम उर्मि कह रहे हैं।**

हर प्राणकोषा में प्राण सूत्रों का होना पाया जाता है। इसी में रचना-तत्व व पुष्टि-तत्व निश्चित मात्रा में समाया रहता है और रचना विधि निहित रहता है। ऐसे प्राणसूत्र अपने में श्वसन क्रिया संपन्न रहते हैं। इनमें अपने जैसे सूत्रों को विपुलीकरण करने का उत्सव बना रहता है। इसके लिए रासायनिक द्रव्यों की उपलब्धि, निश्चित उष्मा का योग आवश्यक रहता ही है। ऐसी प्राणकोषायें जीवों के, मानव के, शरीर के, हड्डी के पोल में भरे रसों में निर्मित होना पाया जाता है और यह शरीर की आवश्यकतानुसार वितरित होता है। इसी के साथ प्राणसूत्रों के संयोजनवश अनेक सूत्र और कोषा निर्मित होते हैं। फलस्वरूप ऐसी कोशिकायें रसायन द्रव्यों के साथ, रक्त के रूप में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखते हुए, शरीर की रचना में कार्य करता हुआ देखने को मिलता है। वनस्पति संसार में, रस संचार

तंत्रणा में पत्ती और जड़ की क्रियाकलाप से रस संचय होता है, फलस्वरूप प्राणकोषायें बनती रहती हैं। इस प्रकार रचनायें, रचनाओं में विकास प्रवृत्ति, प्राणकोषाओं में समाहित रहना सुस्पष्ट है। इसका प्रमाण रचनाओं में विविधता ही है। वर्तमान में पायी जाने वाली विभिन्न रचनायें, रचना में विकासक्रम की गवाही है। इस क्रम में मानव शरीर रचना तक का वैभव इस धरती पर स्पष्ट हो चुका है।

प्राणकोषाओं से रचनायें छोटे बड़े पौधे, वृक्ष, लता, गुल्म के रूप में होते हुए आगे छोटे, बड़े जीवों के शरीर के रूप में अपने को स्पष्ट करती है। वनस्पति संसार की रचनाओं में कार्यरत प्राणकोषाऐं विकसित होकर रचना विधि में परिवर्तन को व्यक्त करती हैं जो जीव शरीर संसार की रचनायें, वह भी मानव शरीर तक की रचना का आधार बनती है, यह सुस्पष्ट हो चुकी है। प्रकृति में चार अवस्थायें दृष्टव्य है। पदार्थावस्था मृदा पाषाण आदि के रूप में। प्राणावस्था पेड़-पौधे, वनस्पति संसार के रूप में। जीवावस्था और ज्ञानावस्था शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में दृष्टव्य है। प्राणावस्था व जीवावस्था के शरीर के रचना क्रम में स्वदेज संसार होना भी पाया जाता है। यह ऐसे देखने को मिलता है कि वनस्पति संसार का अवशेष सूखा पत्ता आदि जब एकत्रित होते हैं, पानी और ऊष्मा पाकर अनेक भुनगी-कीड़े अपने आप पैदा हो जाते हैं। यही आगे अण्डज संसार के रूप में प्रदर्शित होते हैं। इस विधि से ये गुणवत्ता को स्थापित करता हुआ देखने को मिलता है। यह स्वेदज संसार जलचर, भूचर, नभचर के रूप में देखने को मिलता है। अण्डज संसार बलवती होते हुए आकाश में उड़ता हुआ पक्षियों के रूप में, बड़े-बड़े जलचरों और भूचरों के रूप में देखने को मिलते हैं। ऐसे अण्डज संसार पिण्डज संसार को जोड़ता है। पिण्डज संसार अपने में अण्डज संसार से विकसित रचना है। अण्डज, पिण्डज संसार के उपरांत रासायनिक द्रव्यों का विश्लेषण-संश्लेषण सप्त धातुओं के रूप में होता हुआ मानव शरीर रचना तक सुस्पष्ट हुई है।

इन सारे रचनाओं का क्रम और मानव शरीर के अध्ययन से यही पता लगता है कि मानव शरीर में मेधस रचना की समृद्धि पूर्णतया सुस्पष्ट हुई है। इसका प्रमाण यही है कि मानव में कल्पना-शीलता, कर्मस्वतंत्रता और उसकी तृप्ति के रूप में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने को मेधस के माध्यम से व्यक्त करने योग्य इकाई है। मानवेत्तर संसार पहचानना, निर्वाह करने तक सीमित है। पहचानना, निर्वाह करने का आधार भी बल संपन्नता ही है।

यही ऊर्जा संपन्नता, बल संपन्नता जीवंत स्वस्थ मानव में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित हो चुकी है। यह मेधसतंत्र समृद्ध होने की गवाही भी है। उक्त विधि से रचनाओं में विकास होने की रूप रेखा विदित होती है। इसके पहले यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि परमाणु में ही विकास होता है। ऐसे विकसित परमाणु गठनपूर्ण होते हैं, यही चैतन्य इकाई है, यही जीवन है। जीवन ही शरीर को जीवंत बनाये रखते हुए समझदारी को प्रमाणित करता है।

3. परमाणु में विकास

इससे पहले रचनाओं में विकासक्रम स्पष्ट हुआ है। यह विकासक्रम परमाणु, अणु, अणुरचित पिण्ड, वनस्पति संसार, पशु-शरीर, मानव-शरीर की रचना तक, रचना में विकास क्रम को स्पष्ट किये है। मानव शरीर सर्वोच्च विकसित रचना के रूप में अध्ययन गम्य है।

मानव शरीर सर्वोच्च विकसित रचना इसलिये है कि मानव शरीर में मेधस रचना पूर्णतया विकसित हो चुकी है। सुदूर विगत से ही मानव न्याय, धर्म, सत्य संबधी तथ्यों का उद्घाटित करने का इच्छुक रहा है। इस क्रम में जितने भी प्रयोग हुए हैं और आगे भी सूझ-बूझ को विकसित करने की आवश्यकता बनी रही। प्रयासों के क्रम में आदर्शवादी, भौतिकवादी सूझबूझ प्रयोग में आई। फल-परिणाम मानव कुल में आंकलित हो चुका है।

न्याय की अपेक्षा आज भी सर्वाधिक मानव में बनी हुई है।

उक्त क्रम में अस्तित्व को सहअस्तित्व के रूप में समझने के लिए, अभिव्यक्त करने के लिए प्रयास प्रस्तुत है। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होने के आधार पर रचनाओं में विकासक्रम स्पष्ट हुआ। हर रचनाओं के मूल में परमाणु होना स्पष्ट है। परमाणुओं में विकासक्रम होना, विकास होना भी समझ में आता है।

परमाणु में विकास का तात्पर्य परमाणु के गठनपूर्ण होने से है। मानव में एक बात की चाहत बनी ही है - यथास्थिति, वैभव, उसकी निरंतरता - यह स्वाभाविक रूप में स्वीकृत है। परमाणुओं में अंशों का घटना-बढ़ना, परिणाम के स्वरूप में हम समझ चुके हैं। परिणाम का अमरत्व, उसकी निरंतरता की अपेक्षा मानव में ही कल्पना, भास, आभास, प्रतीति के रूप में पाया जाता है। इसके लिए बहुत सारे प्रयास होना भी स्वाभाविक है। सहअस्तित्ववादी विधि से यह स्पष्ट हो गया है कि विकास क्रम में अनेक रचनायें, स्थिति-परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर हो चुकी है। इसके मूल में परमाणु ही कार्यरत रहना स्पष्ट हो चुका है। ऐसा परिणामरत परमाणु ही गठन तृप्त पद में घटित हो जाता है। इस घटना के लिए स्वाभाविक क्रिया परिणाम विधि ही है।

परिणाम क्रम में परमाणुओं को भूखे और अजीर्ण पदों में समझना सहज हो गया है। अजीर्ण परमाणु अपने गठन में से समाहित कुछ अंशों को बहिर्गत करने के प्रयास में रहते हैं। ऐसे परमाणु विकिरणीय वैभव से सम्पन्न रहते हैं। विकिरणीयता को ऐसा समझा जा सकता है कि परमाणुओं में क्रियाशीलता सदा-सदा बनाए रखता है, क्रियाशीलता के फलन में ध्वनि, ताप, विद्युत अपने आप निष्पन्न होता ही है। व्यापक वस्तु में भीगे रहने के फलस्वरूप ऊर्जा सम्पन्नता, बल सम्पन्नता बनाये रखते हैं। यही बल सम्पन्नता, चुम्बकीय बल के रूप में गण्य होता है। अतएव, विकरणीय परमाणु अपने गठन में अजीर्णता को व्यक्त किये रहते हैं, क्योंकि अपने गठन से कुछ अंशों को बहिर्गत करने का प्रयास बना ही रहता है। इस क्रम में विकरणीयता इस प्रकार से उपार्जित हुआ रहता है कि अजीर्ण परमाणु में मध्यांशों की ओर ताप का अन्त:र्नियोजन होता है। इसी क्रम में विद्युत भी बना ही रहता है। यही दोनों प्रक्रिया के फलस्वरूप विकरणीयता प्रगट रहती है।

भूखे परमाणुओं में कुछ और अंशों को अपने में समा लेने की सम्भावना बनी ही रहती है। इसीलिए भूखे परमाणु नाम है। परमाणुओं में अजीर्ण और भूखा होना तृप्त परमाणुओं के अर्थ में ही समझ में आता है (मानव ही उसका अध्ययन करने वाला है)। ऐसा तृप्त परमाणु ही अर्थात् गठन तृप्त परमाणु ही जीवन पद में होना पाया जाता है। फलस्वरूप, गठनपूर्ण परमाणु में बल और शक्ति अक्षय हो जाते हैं। अक्षयता का तात्पर्य ही है कि कितना भी व्यक्त करें, खर्च करें, घटता ही नहीं है। कितना भी आशा, विचार, इच्छा, प्रमाणों को व्यक्त करें, घटता ही नहीं है, और प्रखर होते रहते हैं। इसलिए अक्षय नाम दिया है। ऐसी अक्षयता को हर मानव अपने में परीक्षण पूर्वक पहचान सकता है।

मानव ही अस्तित्व में एक इकाई है जो स्वयं का भी अध्ययन कर सकता है और सम्पूर्ण का भी अध्ययन कर सकता है। इसी महिमावश मानव अपने पद-प्रतिष्ठा के रूप में ज्ञानावस्था में होना स्पष्ट किया जा चुका है। हर नर-नारी ज्ञानावस्था में समान वैभव है। यही परस्पर समानता का सूत्र है। इस सूत्र को भुलावा देना ही भ्रम का द्योतक है।

इस प्रकार जीवन अपने में एक गठनपूर्ण परमाणु के रूप में होना और चैतन्य क्रियाकलाप के रूप में होना तथा मानव शरीर द्वारा मानव परम्परा में प्रमाणित होना सुस्पष्ट है। इस वैभव प्रतिष्ठा को बनाये रखने में हर मानव को आश्वस्त होने, विश्वस्त होने की मूल आवश्यकता

के रूप में अध्ययन करने, समझने और इसे प्रमाणित करने के कार्य में प्रवृत्तियाँ प्रवर्तित हैं। इस प्रकार परमाणु में विकास का मंजिल गठनपूर्ण पद ही है।

उक्त विधि से यह सुस्पष्ट हो गया है कि भौतिक क्रिया, रासायनिक क्रिया, जीवन क्रिया के मूल में परमाणु ही है। जीवन परमाणु गठनपूर्ण है और भौतिक, रासायनिक क्रिया में भागीदारी करते हुए परमाणु गठनशील है। गठनशीलता विधि से भार बंधन, अणु बंधन होना पाया जाता है। वहीं जीवन परमाणु भार बंधन, अणु बंधन से मुक्त रहना पाया जाता है। इसका प्रमाण हर मानव में निहित आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और प्रमाणों को भौतिकीय तुला पर आंकलन और संख्याकरण न कर पाना ही है। भौतिकीय तुला एक उपाय है भार को पहचानने का। इस गवाही से यह स्पष्ट है कि भौतिक परमाणु ही विकासक्रम में गुजरते हुए, गठनपूर्ण पद में संक्रमण घटना सम्पन्न होना मानव को समझ में आता है। दूसरे विधि से परमाणु ही गठनशील पद में जड़ और गठनपूर्ण पद में चैतन्य है। विकासक्रम के बिना विकास का अध्ययन ही नहीं होता। चैतन्य परमाणु, (जीवन ही) परम्परा के रूप में, विकास, विकसित पद, जागृति क्रम, जागृति को अध्ययन व प्रमाणित करता हुआ पाया जाता है। इस तथ्य के आधार पर मानव परम्परा में ही जागृति प्रमाणित होने की व्यवस्था है अर्थात् जागृतिपूर्वक ही मानव परम्परा वैभवित होने की व्यवस्था नियति विधि से बनी हुई है। नियति विधि का तात्पर्य सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व वैभव विधि, प्रक्रिया, फल, परिणाम, उसकी निरंतरता से है।

परमाणु में विकास, गठनपूर्ण पद में अथवा गठनपूर्ण परमाणु के रूप में है। मानव 'है' का अध्ययन करता है। अध्ययन का तात्पर्य अनुभव के प्रकाश में स्मरण पूर्वक अर्थों से इंगित वस्तुओं का, अस्तित्व में पहचान पाना है। इस प्रकार शब्दों का स्मरण, शब्दों के अर्थ से इंगित वस्तुएं अस्तित्व में सुपष्ट होना ही जागृति है। सुस्पष्टता का तात्पर्य स्वयं में अनुभव, कार्य-व्यवहार में प्रमाण होना ही है।

परमाणु में विकास का मतलब यह स्पष्ट हुआ कि परमाणु गठनपूर्ण पद में होना और गठनपूर्ण परमाणु जागृत होना, यही नियति है। यह मानव परंपरा में ही प्रमाणित होता है। इसको मानव परम्परा में व्यक्त करने योग्य शरीर रचना पहले से बन चुकी है। इस शरीर के द्वारा अपनी जागृति को प्रमाणित करने के लिए मानव ने भाँति-भाँति के प्रयोग किये। परन्तु,

परमाणु में विकास का आशय गठनपूर्ण परमाणु है, ऐसा परम्परा में व्याख्यायित न हो पाने के आधार पर जीवन पद का अध्ययन नहीं हो पाया। जीवन में घटित होने वाली जागृति के प्रकाश में ही जीवन पद का अध्ययन होना पाया जाता है। इसलिये इसका जिक्र यहाँ करना स्वाभाविक रहा।

गठनपूर्ण परमाणु भ्रमवश शरीर को जीवन समझने तक, परमाणु में विकास को समझने में समर्थ नहीं रहता है। भौतिक, रासायनिक विकासक्रम में मानव शरीर तथा परमाणु में विकास पूर्वक जीवन और जीवन जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में ही मानव परंपरा में जागृति को प्रमाणित करना होता है। जागृति के प्रमाण का मतलब ही है न्यायपूर्वक, समाधानपूर्वक, यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता पूर्वक प्रमाणित होना। प्रमाणित होने का मतलब परम्परा में होना ही है। उक्त पाँचों विधाएं प्रमाणित होने के क्रम में पीढ़ी से पीढ़ी प्रमाणित होना स्वाभाविक है, यही जागृत परम्परा है।

मानव में यह वैभव देखने को मिलता है कि वह उपयोगी, सदुपयोगी, प्रयोजनशील प्रमाणित किया हुआ शोध अनुसंधान को शिक्षा पूर्वक, अध्ययन पूर्वक, अभ्यास पूर्वक लोकव्यापीकरण करता हुआ पाया जाता है।

उक्त विधा में अभी तक मनाकार को साकार करने का जितना भी प्रयोग हुआ, वह सब लोकव्यापीकरण हुआ। और मनःस्वस्थता के लिए जितना भी प्रयोग हुआ, लोकव्यापीकरण नहीं हुआ। जबकि मानव की परिभाषा ही मनाकार को साकार करने वाला, मनःस्वस्थता का प्रमाण प्रस्तुत करने वाला है (आशावादी तो है ही)।

परमाणु में विकास के चलते गठनपूर्णता एक संक्रमण घटना रही। संक्रमणीयता का तात्पर्य पुनः पूर्व स्थिति में न आने वाला। परिणाम से मुक्ति का तात्पर्य परमाणु में से कुछ अंश घटने, बढ़ने की घटना से मुक्ति।

सहअस्तित्ववादी विधि से शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में मानव परम्परा वैभवित है। जीवन जागृति ही मनःस्वस्थता का प्रमाण है। जीवन में ही सम्पादित होने वाली, वैभवित होने वाली, अनुभव मूलक विधि से, अनुभवों का बोध बुद्धि में, चिंतन चित्त में, न्याय धर्म सत्य पूर्वक समुचित तुलन क्रिया वृत्ति में (विचारण क्रिया) और मूल्यों का

आस्वादन क्रिया मन में होना पाया जाता है । मूल्यों का आस्वादन क्रिया पूर्वक कार्य-व्यवहार तभी सम्भव है जब सम्बन्धों का पहचान स्वीकार्य रहता है। सम्बन्धों को पहचानने के उपरांत ही मूल्यों का निर्वाह कर पाता है।

संबंधों के साथ मूल्य, मूल्यों के साथ वस्तुओं का अर्पण-समर्पण, वस्तुओं के अर्पण-समर्पण के साथ उपयोगिता, सदुपयोगिता, प्रयोजनशीलता प्रमाणित होता हुआ अर्थात् वैभवित होता हुआ पाया जाता है। यही परमाणु में विकास और जागृति का तात्पर्य है। केवल मानव ही जागृति का प्रमाण प्रस्तुत करने योग्य इकाई है।

जागृति का सम्पूर्ण स्वरूप जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना ही है । पदार्थावस्था, प्राणावस्था और जीवावस्था ये सब पहचानना, निर्वाह करने के साथ अपने आचरण को ''त्व'' सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित करते हैं। जबकि मानव में पहचानना, निर्वाह करना के साथ जानना, मानना एक आवश्यकीय प्रक्रिया रही है। इसे भली प्रकार से केवल मानव कुल में ही प्रमाणित होना पाया जाता है। जानना, मानना के साथ ही मानव ज्ञानावस्था में होने के तथ्य को प्रमाणित करता है।

मूल रूप में परमाणु ही सारे क्रियाकलापों का मूल वस्तु है। परमाणु में विकासक्रम और विकास के फलस्वरूप भौतिक, रासायनिक और जीवन क्रिया का होना पाया जाता है । गठनशील परमाणु के रूप में संसार का वैभव पदार्थावस्था, प्राणावस्था से लेकर समृद्ध मेधस रचना के रूप में दिखाई पड़ता है।

परमाणु में विकास का पहला चरण गठनपूर्णता के रूप में स्पष्ट होता है, जिसके फलस्वरूप जीवन एक चैतन्य इकाई के रूप में अक्षय क्रिया होना पाया जाता है।

जीवन परमाणु का जागृत होना (क्रियापूर्णता) परमाणु में विकास का दूसरा चरण है और इस जागृति को मानव परंपरा में प्रमाणित करना (आचरणपूर्णता) अंतिम चरण है।

इस प्रकार गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता इन तीनों चरणों में परमाणु में विकास व जागृति पूरा होता है। परमाणु में विकास का अर्थ यही है।

4. मनः स्वस्थता का स्वरूप

भौतिक, रासायनिक एवं जीवन क्रियाओं के अध्ययन क्रम में मानव का अध्ययन परिपूर्ण होना आवश्यक है। इस मुद्‌दे पर विगत से अथक प्रयास भी हुआ है। मानव के संदर्भ में, मानवत्व को पहचाने बिना जो अध्ययन किया गया, उसमें भौतिक, रासायनिक क्रियाकलाप का अध्ययन भी अधूरा रह गया। उसी प्रकार भौतिक, रासायनिक क्रियाकलापों का जितना भी अध्ययन हुआ, उसके आधार पर भी मानव को समझना पूरा नहीं हो सका। दोनों प्रकार से इसे ऐसे समझ सकते हैं कि भौतिक, रासायनिक क्रियाकलाप का सूत्र अभी तक मानव को जितना उपलब्ध है, उसके आधार पर मानव का सूत्र और व्याख्या नहीं होता। इसलिए हम मानव, मानव पर विश्वास करने की स्थिति में नहीं पहुँचे। हम सर्व देश में रहने वाले मानव, भौतिक क्रियाकलाप पर विश्वास करते हैं, जबकि मानव के क्रियाकलाप पर विश्वास करना अभी तक बना नहीं।

इस समस्या के चलते अभी तक मानव का मानवत्व, मानव का आचरण, मानव की मानसिकता, मानव की प्रकृति पर निश्चयन करना संभव नहीं हुआ। इस घोषणा को प्रकारान्तर से सभी शासन संस्था, शिक्षण संस्था, धर्म संस्कार संस्था, प्रौद्योगिकी संस्था, व्यापार संस्थायें अनेक प्रकार से कहती ही रहती हैं। इस स्थली की रिक्तता ही विकास और जागृति को समझने की आवश्यकता का कारण रही।

इस बात को स्पष्ट किया जा चुका है कि परमाणु ही भौतिक, रासायनिक और जीवन क्रियाकलाप में भागीदारी करता है। जीवन क्रियाकलाप के मूल में गठनपूर्ण परमाणु का होना स्पष्ट किया जा चुका है। चाहे भौतिक क्रियाकलाप हो, रासायनिक हो या जीवन क्रियाकलाप हो, इन तीनों विधा की पहचान और विविधता की पहचान, एकता की पहचान, ये उन-उनके आचरण के आधार पर ही हम मानव निर्धारित कर पा रहे हैं। लोहे के आचरणों के आधार पर लोहे की पहचान निर्धारित करते हैं। वैसे ही मिट्‌टी, पत्थर, धातु, गधा, घोड़ा, बिल्ली, कुत्ता, चींटी, हाथी इन सब को उन-उन के आचरणों के आधार पर ही पहचानते हैं और उनके साथ मानव के होने वाले कार्य व्यवहार को भी निर्धारित कर पाते हैं।

अस्तित्व में मानव, जीवन क्रिया और भौतिक रासायनिक क्रिया (शरीर) का संयुक्त स्वरूप होना स्पष्ट है। परमाणु गठनपूर्ण स्थिति में जीवन क्रियाकलाप को सम्पन्न करता है। जीवन ही आशा, विचार, इच्छा, संकल्प (ऋतम्भरा) और प्रमाण (अनुभव) को अभिव्यक्त, सम्प्रेषित और प्रकाशित करता है। इसका परीक्षण हर मानव अपने में और हर मानव में किया जाना बन पड़ता है। इसलिये मानव, मानव में, से, के लिए अध्ययन करने की वस्तु है।

मनःस्वस्थता को सुख कह सकते हैं। यह समाधान का अनुभव एवं प्रमाण है। मनःस्वस्थता का प्रमाण अर्थात् व्यवहार परम्परा में प्रमाण समाधान के रूप में होना पाया गया। इसी के साथ मानव लक्ष्य-समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व के रूप में पहचाना गया है और हर नर-नारी इसका अनुभव कर सकते हैं। यह भी पता लगा कि समाधान ही अनुभव में सुख है। सुख का प्रमाण व्यवहार में समाधान है। इस प्रकार समाधान का ध्रुवीकरण हुआ। समाधान जीवन क्रिया का अथवा मनःस्वस्थता का अथवा जीवन जागृति का अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा, प्रकाशन होना स्पष्ट हुआ।

मनःस्वस्थता मानव परम्परा में, से, के लिए अति अनिवार्य मुद्दा है। मनःस्वस्थता पूर्वक मानव लक्ष्य प्रमाणित हो पाता है। मानव लक्ष्य सार्थक होने के क्रम में मानव अपने में व्यवस्थित हो जाता है और व्यवस्था में भागीदारी करता है।

मानव में व्यवस्था अपने आप में रासायनिक-भौतिक क्रिया में सीमित न होने का प्रधान कारण मानव में जीवन क्रिया का होना है। जीवन क्रिया का गवाही हर मानव ही है। यद्यपि जीवों में भी जीवन क्रिया होते हैं, परन्तु जीवों में जीवन शरीर के अनुरूप कार्य करने में सीमित है, क्योंकि हर जीव वंशानुषंगीय विधि से प्रवृत्ति और कार्यों को प्रमाणित करता ही रहता है। यह संवेदनाओं के अर्थ में सीमित रहना देखा गया है। जबकि मानव में जीवन संज्ञानशीलता (जानना, मानना) और संवेदनाशीलता (पहचानना, निर्वाह करना) दोनों का प्रभाव दिखाई पड़ता हैं। जीव संसार में केवल संवेदनायें प्रमाणित हो पायी है, जबकि मानव परंपरा में संज्ञानशीलता और संवेदनशीलता दोनों प्रमाणित होते हैं और हर जागृत मानव संज्ञानीयतापूर्वक संवेदनाओं पर नियंत्रण पाए रहते हैं। यह जागृतिपूर्ण अथवा सहज मानव की मौलिकता है। अतएव संज्ञानीयता पूर्वक संवेदनायें नियंत्रित, संतुलित और प्रयोजनशील

होना ही मानव की मौलिकता है। इस अर्थ में संपूर्ण प्रयोजन संज्ञानीयता का प्रमाण होना पाया जाता है।

मानव की परिभाषा मनाकार को साकार करने, मनः स्वस्थता को प्रमाणित करने के अर्थ में सार्थक है। यह हर मानव में, से, के लिये स्वीकृत है। मानव स्वस्थ मानस का होना चाहता ही है और मनाकार को साकार करता ही रहता है। इसे सर्व देश काल में परीक्षण किया जा सकता है। इस ढंग से रासायनिक-भौतिक और जीवन क्रिया का संयुक्त प्रकाशन रूपी मानव अन्य प्रकृति जैसे जीव प्रकृति, वनस्पति प्रकृति और खनिज प्रकृति से भिन्न होना अपने आप में स्पष्ट है।

सहअस्तित्ववादी विचार के अनुसार ज्ञान, विवेक, विज्ञान के अनुसार सर्वमानव को मानव लक्ष्य के अर्थ में शिक्षा संस्कार को अपनाना आवश्यक है। इसमें मानवीयता पूर्ण आचरण मानव लक्ष्य के अर्थ में स्पष्ट रहना आवश्यक है, क्योंकि सभी अवस्था में आचरण के आधार पर ही उन अवस्थाओं का लक्ष्य पूर्ण हुआ समझ में आता है। जैसे पदार्थावस्था में सम्पूर्ण वस्तु परिणाम के आधार पर यथास्थिति रूपी लक्ष्य का आचरण करता हुआ देखने को मिलता है। इसी प्रकार प्राणावस्था और जीवावस्था में भी कार्यरत सभी इकाई उन-उन अवस्थाओं के लक्ष्य के अर्थ में आचरण करती हुई स्पष्ट है, यथा प्राणावस्था अस्तित्व सहित पुष्टि के अर्थ में, बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज तक यात्रा करता हुआ देखने को मिलता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीव संसार, अस्तित्व, पुष्टि सहित वंशानुषंगीय विधि से जीने की आशा में आचरण करता हुआ देखने को मिलता है। इतने सुस्पष्ट स्थितियों को देखने के उपरान्त यह भी आवश्यक रहा कि मानव का आचरण अस्तित्व, पुष्टि, आशा सहित सुख को प्रमाणित करने के अर्थ में होना है जिसके लिए ही मनःस्वस्थता प्रमाणित होना स्वाभाविक रही।

मानव का आचरण मूल्य, चरित्र, नैतिकता के संयुक्त रूप में स्पष्ट होना पाया जाता है। मौलिकता पूर्वक ही मूल्यों का मूल्यांकन होना पाया जाता है, मानव में संबंधों का निर्वाह, उसकी निरंतरता, उसकी स्वीकृति एक मौलिकता है। इसी अर्थ में संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन, परस्पर उभय तृप्ति अथवा परस्पर तृप्ति का होना पाया जाता है। यही मूल्य और मौलिकता का तात्पर्य है। आचरण का दूसरा भाग चरित्र जो

स्वधन, स्वनारी, स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य व्यवहार के रूप में सुस्पष्ट होना पाया जाता है, जिससे मानव का मौलिक चरित्र अथवा सार्वभौम चरित्र सुस्पष्ट हो जाता है। तीसरी विधा में नैतिकता मानव में धर्म नीति और राज्य अर्थ नीति की अपेक्षा और प्रमाण होना पाया जाता है। प्रमाण रूप में हर जागृत नर-नारी अपने तन, मन, धन रूपी अर्थ के सुरक्षा, सदुपयोग के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इसमें से सुरक्षात्मक विधियाँ राज्यनीति और सदुपयोगात्मक विधियाँ धर्म नीति एवं परिवार के आवश्यकता से अधिक उत्पादन ही अर्थनीति के नाम से जानी जाती है।

सहअस्तित्ववादी विधि से हर मानव, मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने योग्य इकाई है। इसमें मुख्य मुद्दा यही है - स्वयं को, स्वयं के लिये रासायनिक, भौतिक एवं जीवन क्रिया के संयुक्त रूप में होने को अध्ययन पूर्वक स्वीकारने की आवश्यकता है। जीवन क्रिया की महिमा और मानव परम्परा में इसकी आवश्यकता ध्यान में रहना अति आवश्यक है। तभी मानव शोध के लिए तत्पर होना पाया जाता है। ऐसी तत्परता जागृति सहज विधि से सर्वशुभ के अर्थ में प्रस्तावित होना होता है। तभी, सर्वमानव समाधान पूर्वक व्यक्त होने, समझदारी पूर्वक हर परिवार समाधानित और सुखी होने की स्थिति स्पष्ट हो जाती है, फलस्वरूप समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व प्रभावित होने का सौभाग्य उदय होता है, यही मुख्य बिन्दु है। सर्वशुभ का प्रमाण भी यही है क्योंकि समाधान, समृद्धि पूर्वक ही मानव सुख, शान्ति का अनुभव करता है। इसी क्रम में समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व पूर्वक संतोष, आनन्द अपने आप में सम्पूर्ण सार्थक होना पाया जाता है। इस ढंग से मानव लक्ष्य सार्थक होने की स्थिति में जीवन लक्ष्य (सुख, शांति, संतोष, आनन्द) सार्थक होता ही है। जीवन लक्ष्य और मानव लक्ष्य सार्थक होना ही अध्ययन और अध्यापन की सार्वभौमता है। ऐसे लक्ष्य के साथ, मानव परम्परा अपने आप में स्वयं को पहचानने और सम्पूर्ण मानव को पहचानने का सूत्र और व्याख्या बन जाता है। प्रमाण के रूप में व्याख्या, समझ के रूप में सूत्र होना पाया जाता है। यह नियति सहज विधि से समीचीन रहना पाया जाता है। नियति विधि का तात्पर्य विकासक्रम, विकास, जागृति क्रम, जागृति सहज प्रमाण परंपरा है। दूसरे विधि से भौतिक, रासायनिक रचना शरीर और जीवन क्रियाकलाप का संयुक्त अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा, प्रकाशन के रूप में है।

मानव लक्ष्य - समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व सहज प्रमाणित करने और उस आधार पर जीवन लक्ष्य (मनःस्वस्थता) - प्रमाण ही सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द को सार्थक बनाने के अर्थ में मानव शिक्षा संस्कार की आवश्यकता सदा-सदा से बनी हुई है। इसकी सफलता ही मानव कुल का सौभाग्य है।

मानव कुल और रासायनिक-भौतिक क्रियाकलाप का सार्थक प्रमाण

शिक्षा की सम्पूर्ण वस्तु सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में रासायनिक, भौतिक एवं जीवन क्रिया के रूप में ही है। इसमें से, इनके अविभाज्य रूप में मानव परम्परा का सम्पूर्ण क्रियाकलाप, व्यवहार, सोच विचार, समझ है। समझ के अर्थ में ही हर मानव का अध्ययन करना होता है। समझ अपने में जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित होती है। इसी अर्थ में सम्पूर्ण अध्ययन सार्थक होना पाया जाता है।

अस्तित्व में सम्पूर्ण इकाईयाँ, रासायनिक, भौतिक एवं जीवन क्रिया के रूप में परिलक्षित है ही। गठनशील परमाणु से लेकर अणु, अणुरचित पिंड, प्राणकोषा, वनस्पति संसार, जीव संसार सभी स्वयं में व्यवस्था में रहते हुए, अपने-अपने निश्चित आचरण को व्यक्त करते हुए समझ में आते हैं। ऐसे प्रमाण में से ये धरती सबसे बड़ा प्रमाण है। धरती एक व्यवस्था के रूप में काम करती है। व्यवस्था के रूप में काम करने का प्रमाण ही है, इस धरती पर भौतिक-रासायनिक और जीवन क्रियाकलाप पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञान अवस्था के रूप में प्रकाशित है। इससे बड़ी गवाही क्या होगी। इस गवाही के आधार पर अर्थात् पदार्थ, प्राण, जीव अवस्था के निश्चित कार्यकलाप के अनुसार, मानव अपने व्यवस्था में होने का भरोसा कर सकता है।

मानव को सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व सहज विधि से स्वयं व्यवस्था रूप में जीने का सूत्र और व्याख्या स्वयंस्फूर्त विधि से समझ आता है।

सहअस्तित्ववादी विधि से सम्पूर्ण मानव को एक अखण्ड समाज के रूप में पहचानना हो पाता है। अखण्ड समाज मानसिकता का पूर्ण समझ ही ज्ञान, विज्ञान, विवेक रूप में सार्वभौम व्यवस्था का ताना-बाना स्पष्ट हुआ रहता है। ऐसे सर्वशुभ के अर्थ में ही मानव व्यवस्था के रूप में सार्थक होना पाया गया। इसलिये सार्वभौम व्यवस्था सम्पन्न होना,

मानव कुल के लिये परम वैभव, सूत्र और व्याख्या है। इस प्रकार मानव कुल, मानव संचेतना पूर्वक ही अपने में से सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज में भागीदारी करने की प्रवृत्ति स्वयंस्फूर्त होना पाया जाता है। इसका एकमात्र कारण है कि सहअस्तित्ववादी विधि से मानव अपने को पहचानता है।

मानव जाति आचरण में धर्म प्रधान है, जीव जातियाँ स्वभाव प्रधान, वनस्पतियाँ गुण प्रधान, पदार्थ रूप प्रधान है। मानव धर्म अपने में सुख के आधार पर समाधान प्रमाणित होना आवश्यक हो चुका है। सर्वतोमुखी समाधान पूर्ण शिक्षा संस्कार ही इसके लिये परम्परा और स्त्रोत है। यही जागृत परम्परा है।

5. सहअस्तित्व स्थिर है,

विकास और जागृति निश्चित है

सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व स्थिर है। सहअस्तित्व में ही विकास और जागृति निश्चित है। इस धरती पर हम मानव इस तथ्य का अध्ययन करने योग्य स्थिति में हो चुके हैं। सर्व शुभ का दृष्टा, कर्त्ता, भोक्ता, उसके मूल में शिक्षा संस्कार से पाई गयी ज्ञान, विज्ञान, विवेक का धारक-वाहक केवल जागृत मानव ही है। ये तथ्य अपने को भली प्रकार से समझ में आता है। सहअस्तित्ववादी दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, विवेक पूर्वक ही हर मानव सर्वशुभ घटनाक्रम में अपने को व्यवस्था सहज रूप में प्रमाणित करते हुए, समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना बन जाता है। यही सर्व शुभ कार्यक्रम का पहुँच और प्रगट रूप है। इसके लिये अर्थात् सार्वभौम ज्ञान, विज्ञान, विवेक के लिये अध्ययन ही मात्र एक स्रोत है। ज्ञान, विज्ञान का स्वरूप अपने में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व दर्शन ज्ञान, चैतन्य प्रकृति रूपी जीवन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण रूपी क्रिया व्यवहार ज्ञान और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने का ज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान है। इनमें से सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व को चार अवस्थाओं में और चार पदों में अध्ययन करना बन पाता है। इसका मूल स्वरूप व्यापक वस्तु में सम्पूर्ण एक-एक वस्तुओं का डूबा, भीगा, घिरा रहना ही है। यही सहअस्तित्व रूपी नित्य स्वरूप है। यह अपने में घटना-बढ़ना होता ही नहीं, फैलना सिकुड़ना होता ही नहीं, हर हाल में होना-रहना विकास एवं जागृति प्रकटन के अनुसार ही बना रहता है। इकाईयों की परस्परता में, निश्चित अच्छी दूरियों में, हर इकाईयों में स्वभाव गति प्रमाणित होने की व्यवस्था है ही। क्योंकि, हर परमाणु अंश दूसरे परमाणु अंशों को पहचानने की स्थिति में ही परमाणु गठन के फलन में निश्चित आचरण चरितार्थ होता हुआ समझ में आया है। निश्चित आचरण का ही स्वभाव-गति नाम है। इसलिये स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही हर इकाई अथवा संपूर्ण इकाईयाँ त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ देखने, समझने में आता है। स्वयं के अध्ययन से भी यही स्थिति उद्घाटित होती है। इस अर्थ में विकास और जागृति निश्चित है।

हम मानव जागृति पूर्वक स्वभाव गति में ही अर्थात् स्वभाव गति सम्पन्नता के

उपरान्त ही, मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्वभाव गति, जागृति के उपरान्त ही होना पायी जाती है। जागृति तभी प्रमाणित होती है, जब मानव समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी सम्पन्न हो जाता है, फलतः भागीदारी पूर्वक अपने महिमा, यथा स्थिति को प्रमाणित करता है। दूसरे क्रम में यह भी समझ में आया कि मानव ही समझदार होने योग्य है। मानव स्थिरता, निश्चयता को समझने के उपरान्त ही स्वयं निश्चयता और स्थिरता के लिये ईमानदार हो पाता है, जिम्मेदार हो पाता है । फलस्वरूप भागीदारी पूर्वक प्रमाणित हो पाता है। इसलिये मानव को समझदार होना आवश्यक है इसकी अपेक्षा अर्थात् समझदारी की अपेक्षा सर्वमानव में होना पाया जाता है।

6. अनुभव और जागृति की स्थिरता और निश्चयता

निश्चयता, स्थिरता सर्वमानव में चिराकाँक्षा के रूप में बनी ही है। सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व, ज्ञान और स्वीकृति का आधार है। यह सर्वमानव में सर्वेक्षण पूर्वक विदित होने वाला तथ्य है। स्वयं को जाँचने से भी यही स्पष्ट होता है। हम सब स्थिरता व निश्चयता को ही स्वीकार करते रहे हैं, न कि अस्थिरता, अनिश्चयता को। स्थिरता के सहज आधार पर ही निश्चयता का होना स्वभाविक है। विकास एवं जागृति सहज निश्चयता, सर्वमानव में जीवन क्रिया के रूप में प्रमाणित है। जीवन की पाँच क्रियायें स्थिति के रूप में और पाँच क्रियायें गति के रूप में सर्व मानव में अध्ययन होना स्वभाविक है। अध्ययन करने वाला भी मानव ही है। अध्ययन के उपरान्त प्रमाणित करने वाला भी मानव, प्रमाणित रूप में जीने वाला भी मानव ही है। इस प्रकार मानव ही जागृति का प्रमाण है। जीवन क्रिया सर्वमानव में गति के रूप में चयन, विश्लेषण, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाणों के रूप में होना पाया जाता है, यही परावर्तन है। इसी के साथ पाँच स्थिति क्रियायें आस्वादन, तुलन, चिंतन, बोध और अनुभव क्रिया के रूप में पाया जाता है। तभी मानव परम्परा अनुभव प्रमाण प्रमाणित होना पाया जाता है। जीवन की पाँच स्थिति क्रियाओं को बल के रूप में तथा पाँच गति क्रियाओं को शक्ति के रूप में व्यक्त करते हैं।

जागृत जीवन द्वारा संबंध उनके निर्वाह एवं प्रयोजनों के अर्थ में किया गया चयन है - आशा, सुख से जीने की आशा, यह पहली जीवन शक्ति है। दूसरा, आशा के अनुरूप, अर्थात् जागृत जीवन सहज आशाओं के आधार पर विश्लेषण सम्पन्न होना ही विचार है। तीसरा, जागृत जीवन के विश्लेषण के अनुरूप चित्रण होते रहना ही इच्छा है। चौथा, जागृत जीवन के न्याय, धर्म, सत्यता को प्रयोजित, और व्यवहारित करना है ऋतम्भरा। पाँचवां, अनुभव सहज प्रमाणों का प्रमाणिकता संज्ञा है। इस प्रकार पाँच शक्तियों का होना मानव को समझ में आता है। इसी प्रकार पाँच बलों की भी प्रमाणिकता है -

1. जागृत जीवन में अनुभव एवं उसकी निरंतरता क्रिया है आत्मा।

2. अनुभव के यथावत् बोध करने वाली अर्थात् पूर्णतया स्वीकार करने वाली क्रिया है

बुद्धि।

3. अनुभव अनुसार न्याय, धर्म, सत्य को स्वीकार करने की निरंतरता को बनाए रखने वाली क्रिया चिंतन है चित्त।

4. साक्षात्कार किया गया न्याय धर्म सत्य को अनुभव मूलक विधि से तुलन करने वाली क्रिया है वृत्ति।

5. तुलन के अनुसार संपूर्ण मूल्य, चरित्र, नैतिकता की अपेक्षा अथवा आस्वादन करने वाली क्रिया है मन।

इस प्रकार पांच बल एवं पाँच शक्तियों का स्पष्टीकरण जीवन में होने वाली क्रिया के रूप में है।

जागृत मानव में प्रमाण अथवा सम्पूर्ण प्रमाण सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में अनुभव का ही प्रकाश है। अनुभव के प्रकाश में प्रमाण के अतिरिक्त कोई दूसरा वस्तु समाहित रहता ही नहीं। इसलिए प्रमाणों को परम, पावन, पूर्ण नामों से भी इंगित करते हैं। दूसरे क्रम में अनुभव प्रमाणों की परम स्वीकृति संकल्पों में, संकल्प का चित्रण इच्छाओं में, ऐसी चित्रणों का विश्लेषण विचारों में, ऐसे विचारों का आस्वादन मूलक विधि से चयन क्रिया आशाओं में सम्पादित होना समझ में आता है। अनुभवमूलक विधि से ये सभी दश क्रियाओं में निश्चयता स्पष्ट होती है।

जीवन ज्ञान सम्पन्नता विधा में यह अध्ययनगम्य वस्तु है। स्थिति क्रियायें अनुभवगामी और अनुभवमूलक विधि से अभिव्यक्त होना, और अनुभवमूलक विधि से प्रमाणित होना सार्थक है। मानव परम्परा में, से, के लिये तीसरा कोई सार्थक प्रक्रिया, विधि अस्तित्व में नहीं है। मानव सहज विधि से आवश्यकता के आधार पर यही परम होना पाया जाता है। मानव लक्ष्य सार्थक होना ही परम आवश्यकता के रूप में पहचानने में आता है, समझ में आता है। फलतः मानव सचेष्ट होता हुआ भी देखने को मिलता है।

मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व है, यह अनुभवमूलक विधि से ही प्रमाणित होना पाया जाता है। अनुभव, जीवन सहज प्रमाण एवं वैभव क्रिया है। इसके

आधार पर ही प्रमाण परम्परा मानव कुल में चरितार्थ होना समीचीन है। इसी क्रम में हमें निश्चयता को प्रमाणित करने का सौभाग्य स्पष्ट हो जाता है। यह हर नर नारी के लिए समीचीन है।

अनुभव ही जागृति और जीवन की परम अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा, प्रकाशन है। परम का तात्पर्य अनुभव से ज्यादा होता नहीं, जीवन उससे कम में अधूरा रहता है। अनुभव पूर्वक जीवन में तृप्ति होना पाया जाता है। जीवन तृप्ति अपने आप में मानव परम्परा में समाधान, समृद्धि, अभय के आधार पर सुख, शांति, संतोष के रूप में पहचानना होता है। सहअस्तित्व में अनुभव ही परम है, यही आनन्द है। इसका प्रमाण, मानव परम्परा में, से, के लिये परम है। इनका अर्थात् मानव लक्ष्य का मूल्यांकन प्रणाली, व्यवस्था में समाहित रहता है, यही न्याय सुरक्षा व्यवस्था है। न्याय सुरक्षा विधि से मानव हर स्थिति गति में विश्वस्त रहना, आश्वस्त रहना पाया जाता है। फलस्वरूप, जीवन सहज सम्पूर्ण वैभव मानव परम्परा में प्रमाणित होने का मार्ग प्रशस्त रहता है। यही जागृति परम्परा है। जीवन तृप्ति का प्रमाण मानव का अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदार होना है। मानव परम्परा में व्यवस्था होना, व्यवस्था विधि से ही समाधान, समृद्धि, अभय सहअस्तित्व प्रमाणित होना स्वभाविक रहता है। यही जागृति का भी प्रमाण है, सम्पूर्ण मानव जीवन का भी प्रमाण है। मानव परम्परा का परम वैभव है। प्रयोजन रूपी व्यवस्था ही मानव परम्परा की सर्वोच्च उपलब्धि है। इन्हीं उपलब्धियों में स्थिरता, निश्चयता स्पष्ट है।

मानव परम्परा जागृत होने में स्थिरता, अस्तित्व सहज विधि से प्रमाणित होता है, सुस्पष्ट होता है। निश्चयता मानवीयता पूर्ण आचरण विधि से प्रमाणित होता है, सुस्पष्ट होता है। इसकी अपेक्षा मानव में पीढ़ी से पीढ़ी में रहा आया है। इस प्रकार मानव का विकास और जागृति को प्रमाणित करने में समर्थ होना ही, मानव का उत्थान, वैभव, राज्य होना पाया जाता है। राज्य का परिभाषा भी वैभव ही है। उत्थान का तात्पर्य मौलिकता रूपी ऊँचाई में पहुँचने से या पहुँचने के क्रम से है। वैभव अपने स्वरूप में परिवार व्यवस्था और विश्व परिवार व्यवस्था ही है। ऐसी व्यवस्था में भागीदारी मानव का सौभाग्य है। इस क्रम में अध्ययन, शिक्षा संस्कार के रूप में उपलब्ध होते रहना भी व्यवस्था का बुनियादी वैभव है। वैभव ही राज्य और स्वराज्य के रूप में सुस्पष्ट होता है। स्वराज्य का मतलब भी मानव के वैभव से ही

है। यह वैभव समझदारी पूर्वक ही हर मानव में पहुँच पाता है। यह शिक्षा पूर्वक लोकव्यापीकरण हो पाता है। ऐसी व्यवस्था अपने आप में द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध मुक्त रहना इसके स्थान पर समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व पूर्वक रहना पाया जाता है। यही सार्वभौम व्यवस्था का तात्पर्य है।

युद्ध और संघर्ष मुक्त जागृति और अभ्युदय सहज प्रमाण युक्त परंपरा ही व्यवस्था का सूत्र और व्याख्या है। समझदारी पूर्वक हर मानव अर्थात् नर-नारी का अपने जागृति को प्रमाणित करना स्वयंस्फूर्त प्रवृत्ति है। इन प्रवृत्तियों के आधार पर मानव का वर्तमान में विश्वास को प्रमाणित कर पाना होता है। यही कड़ी है। वर्तमान में विश्वास के आधार पर ही सहअस्तित्व प्रमाणित हो पाता है।

जागृत मानव परंपरा में ही स्थिरता सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व विधि से प्रमाणित होता है और निश्चयता मानवीयतापूर्ण आचरण विधि से प्रमाणित होता है।

7. उष्मा और धरती का संतुलन

मानवेत्तर प्रकृति को खनिज सम्पदा से भरपूर धरती पर फैली हुई हरियाली, जीव संसार के रूप में देखते हैं। यह धरती पहाड़, जंगल, नदी, नाला, जीव जानवर से सम्पन्न है। सम्पन्नता का अर्थ है इस धरती पर ये सब विद्यमान हैं ही। धरती अपने में खनिजों को ठोस और विरल के रूप में समायी हुई है और इस पर फैली हुई रसायन संसार ठोस, तरल, विरल के रूप में होना देखने को मिल रहा है। ठोस रूप में बहुत सी वस्तुयें अपने को देखने को मिलती ही हैं। जैसे शरीर में बनी हुई हड्डियाँ ठोस रूप में रहती ही हैं। ऐसी वस्तुयें ठोस होने के पूर्व तरल रूप में रहती ही है। रसायन द्रव उष्मा संयोग से विघटन विधि से संयोजित होकर विरल रूप में विद्यमान रहती है। इसका मतलब उष्मा विधि से वस्तु फैलना शुरु करता है। किसी ठोस वस्तु में उष्मा को प्रवेशित कराया जाए तब वह वस्तु अपने निश्चित आयतन स्वरूप से अधिक जगह में फैलने लगता है। यह तब तक फैलता है, जब तक तरल हो जाए, विरल हो जाए।

ऊष्मा को हम इस विधि से पहचानते हैं कि वस्तु जलकर या जलाकर जो प्रभाव होता है, इसे हम ऊष्मा नाम दे रहे हैं। इसको दूसरे विधि से ऐसे पहचान पा रहे हैं, वस्तु जो ज्यादा आवेशित हो गई वह सदा उष्मित होती है। अर्थात् उसका ताप बढ़ जाता है। ताप को पहचानने वाला आदमी है। अन्य प्रकृति ताप से प्रभावित होते हैं। मानव को अलग करके ताप को मापदंड में पहचानना नहीं होता। ताप को प्रयोगों में प्रयोजित कर फल परिणामों को आंकलित कर पाना मानव से ही सम्पन्न होता है अर्थात् मानव ही सम्पादित करता है।

पहचानना जड़-चैतन्य प्रकृति दोनों में होता है, पहचानना निर्वाह करने में जड़ प्रकृति प्रमाणित है। जबकि जानना, मानना केवल चैतन्य प्रकृति मानव में ही होता है। मानव जड़-चैतन्य के संयुक्त रूप में होते हुए जानने-मानने की क्षमता से युक्त है। मूल मुद्दे में पहचानना भी एक क्रिया है। एक पदार्थ, दूसरे के लिए ताप को परावर्तित करते हैं, अपने में से ताप को जो व्यक्त करते हैं, उसके आसपास के अणु परमाणु ताप को स्वीकारते हैं। इसे हम पहचानना कह रहे हैं। फलस्वरूप परिणतियाँ हो जाती हैं। जैसे लोहे को पिघलने के

लिये जितने भी ऊष्मा को नियोजित किया जाता है, उसको लोहा स्वीकारता है, लोहे का अणु परमाणु स्वीकार करता है। फलस्वरूप पिघलता है। इस क्रिया को हम मानव ऐसी व्याख्या करते हैं - पहचान लेता है, निर्वाह करता है, तभी पिघलता है। मानव ही एक ऐसी इकाई है जो तप्त लोहे को विविध आकारों में बदल देता है, इसी को सांचे में ढालना हम मानते हैं। इसमें लोहा पुनः जमते तक, ठंडा होने तक ऊष्मा को परावर्तित करते ही रहता है। इसके साथ जुड़ी हुई सभी द्रव्य, लोहे के ताप को आबंटित कर लेता है। अन्ततोगत्वा लोहा ठंडा हो जाता है।

ताप उद्दीप्त करने के प्रयास से, अर्थात् ताप को प्रकट करने और बढ़ाने की क्रिया में एक जलने वाला और एक जलाने वाला का संयोग रहता ही है। जैसे कोयला जलने वाला है, हवा जलाता रहता है। उसके मूल में जाए तो कोयले को आरंभिक रूप में जलाने के लिये कोई न कोई जलने वाला, जलाने वाला के रूप में होता है। जैसे, जलता हुआ आग। इन विधियों से चलकर कोयला, लकड़ी, प्राकृतिक गैस, पेट्रोलियम गैस अथवा विकिरणीय प्रक्रिया से ताप उद्दीपन क्रिया को मानव सम्पादित करता हुआ देखने को मिलता है। साथ में विस्फोटक द्रव्यों की पहचान, उसका संयोजन और दबाव विधि से तापोद्दीपन होता हुआ भी देखने को मिल रहा है।

ऐसे ताप को नियोजित कर मानव आवश्यक कार्यों को सिद्ध करते ही हैं। जैसे पानी गरम करना, खाना बनाना, कमरा गरम करना, दवाई को सूखाना आदि। इसी प्रकार अनेक क्रियाओं को ताप संयोजन से, नियन्त्रण से सम्पादित करता ही है। यह मानव परम्परा में अभ्यस्त हो चुकी है। ताप कहीं भी हो, वह उस वातावरण के ताप से अधिक होना आवश्यक है तभी ताप है। दूसरे विधि से, जहाँ ताप हो उसके आस-पास उससे कम ताप हो, तभी अधिक ताप कम ताप की ओर परावर्तित होता है। जैसा कहीं भी हम आग जलाते हैं, वहाँ अधिक ताप हो जाता है। कम ताप की ओर परावर्तित होने की क्रिया को ऐसा देखा जाता है कि ताप जहाँ प्रकट रहता है, उसके आस-पास के अणु परमाणुओं के तप्त होने से फैल जाता है। इसका मतलब यह हुआ, तप्त अणुयें अपने प्रभाव क्षेत्र, वातावरण में ताप फैलाकर अणुओं को तप्त बनाता है, जो इसके ताप से कम रहता है। वातावरण के अणु-परमाणु इसको स्वीकार कर इस क्रम को आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार ताप परावर्तित होकर कम

होते जाता है, अन्ततोगत्वा सामान्य ताप तक पहुँचते हैं। सामान्य ताप से आशय स्वभाव गति में होने से है (स्वभाव गति का तात्पर्य है विकासक्रम, विकास, जागृतिक्रम, जागृति में जो यथास्थितियाँ होती हैं अर्थात् त्व सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी ही स्वभाव गति है)।

इसका प्रयोग इस प्रकार से किया जा सकता है कि किसी भी कमरे के एक कोने में एक मोमबत्ती जलाकर रख दें, अथवा मिट्टी का तेल का दिया अथवा हीटर जलाये, स्टोव जलाये अथवा ज्यादा से ज्यादा प्रकाश देने वाले बल्व जलाये, उसको छूने से हमको जितना ताप महसूस होगा, उससे कुछ दूर में उससे कम महसूस होगा, ज्यादा दूर में और कम होगा, दूसरे कोने में सबसे कम होगा, इसका निरीक्षण, परीक्षण हर विद्यार्थी कर सकता है। कमरे के बीच में रखकर यही प्रयोग करें तो पता लगता है कि ऊष्मा सभी ओर समान रूप से परावर्तित होता है।

इसी प्रकार हम उक्त प्रयोग विधि से यह भी स्वीकार सकते हैं कि सूर्य का ताप सभी ओर समान रूप से परावर्तित हो रहा है। सूर्य बिम्ब से परावर्तित ताप धरती को छूता है सूर्य की ससम्मुखता में। इसी के साथ यह भी समझ में आता है कि धरती घूमते हुए जो भाग सूर्य के सम्मुख रहता है, वह तप्त होता है। इसी कारणवश सूर्योदय और अस्त होता है। अस्त होते समय भी न्यूनतम ताप धरती को स्पर्श किये रहता है। इन दोनों के मध्य में, बीच में, अधिकतम ताप स्पर्श किये रहता है। इसको हर व्यक्ति परीक्षण, निरीक्षण कर सकता है।

धरती के घूर्णन गतिवश ही सूर्य के सम्मुख, विमुख होने का विन्यास स्पष्ट होता है। इसी घूर्णन गति के नर्तन के समान में होने वाली कंपनात्मक गति ही सूर्य के चारों ओर वर्तुलात्मक गति में प्रमाणित होने का स्वरूप है। इसके मूल में त्व सहित व्यवस्था प्रवृत्ति ही है। यह प्रवृत्ति परस्पर अच्छी दूरी में रहते हुए व्यवस्था को प्रमाणित करने के रूप में है। इस अर्थ में निश्चित निर्वाह हर परस्परता में वर्तमान है, अर्थात् प्रमाणित है। इस प्रकार से यह धरती, इस सौर्य व्यूह में जितने भी ग्रह-गोल भागीदारी कर रहे हैं, इन सबके साथ तालमेल रखते हुए, सूर्य के सम्मुख-विमुख होते हुए, सूर्य से निश्चित अच्छी दूरी में रहते हुए सभी ओर चक्कर काटता हुआ देखने को मिल रहा है। इस प्रकार से यह चक्राकार गति पथ पूर्णतया गोल न होकर अण्डाकार में होना, इस बात की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का प्रधान आशय धरती

में ऋतु परिवर्तन की स्वयं स्फूर्त प्रवृत्ति है। अंततः इस धरती पर विकास क्रम, विकास, जागृतिक्रम, जागृति प्रमाणित होना ही आशय है। इस आशय को कैसे हम मानव समझें।

उक्त मुद्दे को इस प्रकार समझना बन जाता है कि इस धरती पर चारों अवस्थायें प्रकाशित है। जो थी नहीं, वह होती नहीं। इस तथ्य को विश्लेषित करने पर पता लगता है कि इन चारों अवस्थाओं की मूल प्रवृत्ति पदार्थावस्था में समाहित रहा ही। अगर ऐसा नहीं होता, तब यौगिक और हरियाली का उदय होना संभव ही नहीं था, जबकि इस धरती पर यौगिक क्रिया सम्पादित हो चुकी है, हरियालियाँ फैल चुकी हैं। इसी के साथ-साथ भुनगी-कीड़े से लेकर अनेक पशु-पक्षी, जीव-जानवरों का प्रगटन व परम्परा स्थापित हो चुकी है। इतना ही नहीं, मानव शरीर परम्परा भी स्थापित हो चुकी है। इन में से किसी को नकारने का कोई तर्क या स्थिति मानव के पास नहीं है। दूसरा मानव का हैसियत यही है कि मानव 'है' का अध्ययन करता है। चारों अवस्थायें मानव के लिए अध्ययन करने की वस्तु है। अध्ययन करने से हमें इस तथ्य का सूत्र मिलता है कि धरती में ऋतु क्रम व्यवस्था से ही अथवा प्रभाव से ही, पूरकता से ही, भौतिक क्रिया व्यवस्था से ही रासायनिक क्रिया व्यवस्था का प्रकटन इस धरती पर हो चुका है। इसी क्रम में से चारों अवस्थाओं की रचनाएं सुस्पष्ट हो चुकी हैं। सभी खनिज भी ठोस रूप में ही अपने-अपने प्रजाति के अणु रचना अथवा मिश्रित रचना के रूप में प्रस्तुत है। इन्हीं की विविध प्रजातियों के आधार पर यौगिक घटना, रासायनिक उर्मि और वैभव अर्थात् नृत्य घटित है। रासायनिक द्रव्य के आधार पर संपूर्ण प्राणकोषा, प्राणकोषा संरचित रचनाएं, छोटे से बड़े वनस्पति प्रजातियाँ, जीवावस्था प्रजातियाँ, मानव शरीर प्रजाति का रचना इस धरती पर ही प्रमाणित है। इससे स्पष्ट हुआ कि ऊर्जा सम्पन्नता, बल सम्पन्नता, क्रियाशीलता के साथ-साथ विकास क्रम और विकास की प्रवृत्तियाँ समाई रहती है।

जीवन, विकसित पद में होना पहले स्पष्ट किया जा चुका है। यह गठनपूर्ण पद को प्राप्त किया रहता है। इस गठनपूर्ण परमाणु में ही आशानुरूप गतित होने की व्यवस्था बनी रहती है। यह स्वयं स्फूर्त है कि ऐसा आशानुरूप गतित रहने वाला जीवन आशावश किसी न किसी जीवावस्था अथवा ज्ञानावस्था के शरीरों को संचालित करता है। ऐसे जीवन किसी भी एक धरती से दूसरे धरती तक पहुँचने की सम्भावना समीचीन रहती है। कुल मिलाकर हर धरती पर विकासक्रम, रासायनिक-भौतिक रचनाओं और उनके परम्परा के रूप में प्रमाणित

होना मानव को समझ में आता है। इससे स्पष्ट हो गया है कि हर धरती, किसी समृद्ध धरती के साथ किसी निश्चित दूरी को बनाये रखते हुए, व्यवस्था में भागीदारी के रूप में कार्य करते हुए स्वयं में विकासक्रम, विकास, जागृतिक्रम, जागृति को प्रमाणित किये रहता है। इन सबका दृष्टा जागृत मानव ही है न कि भ्रमित मानव। इस क्रम में कई धरती किसी न किसी अवस्था में कार्यरत हैं ही। सभी अविकसित धरतियाँ विकास को प्रमाणित करने की ओर प्रवर्तनशील है। यह भी इस बात का संकेत है कि जितनी भी धरतियाँ अविकसित अवस्था में है अर्थात् जिन धरती में विकास क्रम ही प्रगट नहीं हुआ है, ऐसी सभी धरतियाँ विकास क्रम को सजाने की ओर अपने प्रवृत्ति को बनाये हुए हैं। इसी क्रम में सूर्य ग्रह जो ह्रास की परम स्थिति में है, वह भी कालान्तर में विकास क्रम में होने की कल्पना मानव परम्परा में प्रचलित है। यह सब स्थितियाँ विकास और जागृति होने के पक्ष में स्पष्ट हुई है। धरती कोई भी अवस्था में हो उसमें विकासक्रम, विकास को प्रमाणित करने का मूल बीज समाहित ही रहता है। क्योंकि, हर आवेश सामान्य गति की ओर, स्वभाव गति की ओर; स्वभाव गति विकास क्रम की ओर; विकासक्रम विकास को प्रमाणित करने की ओर; विकास जागृतिक्रम को प्रमाणित करने की ओर; जागृतिक्रम जागृति को प्रमाणित करने की ओर एवं जागृति की निरन्तरता को प्रमाणित करने की ओर कार्य करता हुआ समझ में आता है। इस विधि से इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि सम्पूर्ण सह-अस्तित्व विकास और जागृति को यथास्थिति प्रकाशित करने के अर्थ में ही संतुलन पूर्वक क्रियाशील है। इसी क्रम में कई ग्रह-गोल में अधिकतम ताप जैसा सूर्य में है का होना एवं सम्मुख जितने भी ग्रह गोल होते हैं जिनमें कम ताप रहता है, उनमें ताप का समाहित हो जाना दिखाई पड़ता है। इस क्रम में यह धरती अपने में कितना श्रम किया है, यह हर जागृत मानव को बोध होता है।

इस धरती के ऊपरी सतह में जंगल, समुद्र और थोड़े भाग में मरूस्थली होना पाया जाता है। यह जंगल कैसा भी हो, जंगल के सर्वाधिक पेड़-पौधे, लता-गुल्य अपान वायु (कार्बन डाई आक्साइड) नाम से जाने वाले द्रव्य को अपना खाद्य पदार्थ बनाते हुए अथवा पाचन पदार्थ बनाते हुए प्राण वायु को अर्थात् ऑक्सीजन को प्रदान करता है। जबकि, कोयला और खनिज कोयले से निष्पन्न तेल-पेट्रोलियम को जितने भी यंत्रों में ईंधन के रूप में प्रयोग करते हैं अथवा प्रौद्योगिकी विधि से यंत्र संचालन में प्रयोग किया जाता है, इन सब के विसर्जित ईंधनावशेष में पाई जाने वाली प्राण घातक वायु (कार्बन मोनोआक्साईड)

पर्यावरण के लिए अत्यंत घातक मानी जा रही है। इससे पता लगता है, ऐसे खनिज कोयला के मूल में जो बड़े-बड़े जंगल धरती में दबकर कोयले के रूप में आज प्रकट हैं, ऐसे दबने के पहले के जंगल वही द्रव्य अपने में पचा रखा है, इसी को अपना खाद्य पदार्थ बनाकर आकाशचुंबी वृक्ष बने रहे होंगे। ऐसी आकाशचुंबीयता की परिकल्पना को धरती में बनी हुई खनिज कोयले की मोटाई के आधार पर किया जाना स्वाभाविक है। वर्तमान में कहीं-कहीं, कोयले की 150 से 180 मीटर मोटाई की परत बिछी है। इससे अन्दाज लगाया जा सकता है कि कितने बड़े-बड़े वृक्ष रहे होंगे। एक मीटर कोयला होने के लिए कम से कम दस मीटर वृक्ष की लम्बाई की आवश्यकता पड़ती है, इसकी सघनता गणितीय विधि से सभी समझ सकते हैं। इस प्रकार अपार कोयला बनाने के लिए कितने बड़े वृक्षों का जंगल रहा होगा, गणितीय विधि से ही इसको निकाला जा सकता है। सामान्य परिकल्पना में समाना ही बहुत मुश्किल है, परिकल्पना में यही लाया जा सकता है कि आकाशचुंबी सघन जंगल रहे होंगे। ऐसे जंगल भूमि के अंदर दबकर सैकड़ों हजारों वर्षों में कोयला हुआ होगा, वही जंगल प्राणघातक वायु (कार्बन मोनो ऑक्साईड) को पचाता रहा होगा, अब वही कार्बन मोनोऑक्साईड को पैदा करता है। अभी पौधे कार्बनडाईऑक्साईड पचाते हैं, ऑक्सीजन को पैदा करते हैं। यह सभी ज्ञानियों-विज्ञानियों को विदित हो चुकी है। इस बात का जिक्र यहाँ इसलिए कर रहे हैं कि इस धरती के लिए इसका प्रयोजन क्या है ?

हम इस बात को समझ चुके हैं कि कोयला, कार्बन उष्मा को शोषित करता है। वातावरणीय ऊष्मा को अपने में ज्यादा से ज्यादा समा लेता है। इसका प्रयोग इस प्रकार कर सकते हैं कि एक समान स्थली में कोयला को पोते, एक दूसरे समान स्थली में सफेद को पोत दें। कड़ी धूप के समय कोयला जहाँ पोता रहता है, वहाँ पैर रखने से गरम लगता है, सफेद जहाँ पोता रहता है वहीं कम गरम लगता है। इस दोनों के बीच की स्थितियों को भी अन्य जगहों में देखा जा सकता है। इससे यह पता लगता है कि कोयला ज्यादा से ज्यादा ताप को अपने में पचा लेता है। धीरे-धीरे वितरित करता है। इस प्रमाण से हमें यह समझ में आता है कि इस धरती पर पहुँचने वाली ब्रह्माण्डीय उष्मा, इसमें सबसे अधिक सूर्य ऊष्मा, इस धरती पर पचाने की आवश्यकता रही। क्योंकि धरती अपने ऊष्मा संतुलन को बनाये रखने के उपरान्त ही धरती के सतह पर हरियाली सुरक्षित रही। हरियाली सुरक्षित रहने के उपरान्त ही कृमि, कीट, जीव, जानवरों का प्रकटन, उसके उपरान्त ही मानव का प्रकटन होना क्रमिक

रचना वैभव के रूप में हम मानव को समझ में आता है। इस वैभव के मूल में धरती अपने में ऊष्मा संतुलन बनाये रखना एक प्रमुख उपलब्धि रही है। इसमें मानव का कोई योगदान नहीं रहा। इसी कोयले में समाहित तेल ही धरती में खनिज द्रव्यों के साथ परिपक्व हो कर खनिज तेल के रूप में उपलब्ध हुआ है। इसका भी संरक्षण धरती के अन्दर उचित वातावरण के रक्षा कवच के साथ बना ही रहा। सुरक्षित रखने का तात्पर्य तेल तक प्राणवायु अर्थात् आक्सीजन के न पहुँचने देने के लिए वातावरण को बनाये रखना ही है।

इस प्रकार से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि धरती की कम्पनात्मक गति के समान रूप में सम्पूर्ण खनिज में कम्पन और स्पन्दन, उससे अधिक रासायनिक द्रव्यों में स्पन्दन, उससे अधिक प्राण वायु में स्पन्दन, फलस्वरूप रचनाएं इस धरती पर प्रकट हैं। ये सब ऐसी संतुलित रचनाओं को प्रकट करने के अर्थ में, इसके पूर्व भूमि में सम्पन्न सम्पूर्ण क्रियाकलाप है, अतएव ये सब नियम पूर्वक ही सम्पादित हुई हैं, नियंत्रण और संतुलन पूर्वक अवस्थायें प्रकट हैं। इसे हम मानव को अच्छी तरह से समझने की आवश्यकता है और अनुशीलन पूर्वक संरक्षण, संवर्धन विधि से स्वयं को व्यस्थित कर लेने की आवश्यकता है। मानव के व्यवस्थित होने के मूल में ज्ञान, विज्ञान, विवेक का एक संगीतमय कार्यकलाप स्पष्ट रहने से है। यही कार्य-कलाप भाषा, कार्य-व्यवहार में नियोजित होकर प्रयोजनों को प्रतिपादित करता है। मानव का प्रयोजन समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व को प्रमाणित करना ही है।

इस क्रम में मानव अपने तर्क से ऐसा सोचते हैं - सूर्य विकसित होने पर (स्वभावगति) धरती के लिए ऊष्मा कहाँ से मिलेगा, इस धरती पर यह हरियालियाँ कैसे रहेंगी, ये सब हरियालियाँ सूर्य प्रकाश के कारण है। इसमें समाधान का सूत्र हम स्वयं मानव में ही पहले कदम में ही मिल जाता है। मानव देह की निश्चित ऊष्मा (तापमान) विधि बनी हुई है। उसे हम अपने मापदंड के अनुसार 98-99 ^{0} फारेनहाइट रखते हैं। मापदंड का नाम थर्मामीटर माना जा रहा है। इस तथ्य को धरती पर जीता जागता मानव में देखा गया है कि जहाँ 0^0 फारेनहाइट से नीचे तापमान है, वहाँ भी मानव रहता है, वहाँ के मानव शरीर की तापमान भी उसी सामान्य तापमान के रूप में नापा जाता है। इस धरती पर 120^0 फारेनहाइट से अधिक ताप प्रभावित है, वहाँ भी मानव शरीर का वही सामान्य तापमान मापा जा रहा है, तभी मानव

को स्वस्थ कहा जा रहा है। वातावरण के अनुसार ताप यदि बदल जाता है तो रोगी कहलाता है अथवा मर गया कहा जाता है। इस प्रमाण के आधार पर धरती का स्वास्थ्य भी विचार किया जा सकता है। धरती के वातावरण में जो ब्रह्माण्डीय किरण और ताप परावर्तित होकर धरती को स्पर्श करता है, इससे धरती का तापमान न बढ़ने, न घटने के लिए ताप पाचन व्यवस्था को धरती अपने स्वयं में से संतुलन बनाये रखना पहले वर्णित हो चुकी है। यह कोयले के परत के रूप में धरती में समायी हुई है। मानव अपने अविवेक वश और प्रलोभन वश धरती का पेट फाड़ दिया, कोयले को निकाल लिया, धरती तापग्रस्त हो गयी। कोई भी विज्ञानी और प्रौद्योगिकी संसार इस जिम्मेदारी को स्वीकारने को तैयार नहीं है। इसका उपचार दर किनार रहा। इस विधि से हम कहाँ पहुँचेंगे, क्या हो सकता है ? पहले दुष्परिणाम का स्वरूप है कि धरती किसी तादात् से तप्त होने के उपरान्त इस धरती पर हरियाली जीव-जानवर, मानव रह नहीं पायेंगे। दूसरी स्थिति में धरती के ताप ग्रस्त होने के उपरान्त उत्तर, दक्षिणी ध्रुव में जितनी भी बर्फ संग्रहीत हैं उस सबके पिघलने के स्थिति में ऊँचे-ऊँचे पर्वत शिखरों को छोड़कर सभी जगहों में जल मग्न की स्थिति हो सकती है। ऐसी स्थिति में मानव की क्या हालत हो सकती है, सभी सोच सकते हैं। तीसरे दुष्परिणाम की स्थिति यह भी हो सकती है कि इस धरती पर जब कभी पानी के रूप में यौगिक क्रिया संपादित हुआ, तब एक जलने वाले, एक जलाने वाले द्रव्य के सहज रूप में जुड़ने की स्थिति बनी ही होगी। उस समय जलने वाले, जलाने वाले उप द्रव्य दोनों को सामान्य बनाये रखने के लिए एकमात्र ब्रह्माण्डीय किरण ही उपादेय रहा है। ऐसे ब्रह्माण्डीय किरण बनाम विकिरण और विकिरणीयता के संसार को आज का मानव पहचान चुका है। इस बात को ध्यान में रखने पर निम्न वर्णित कल्पना ध्यान में आती है, भले ही उक्त घटना घटित न हो। आज हम अपने ही अविवेक और प्रलोभन वश धरती को ताप ग्रस्त करते जा रहे हैं, परिणाम में धरती की सुरक्षा की संभावना न्यून हो गयी हैं। प्राणवायु की मात्रायें शनैः-शनैः घटने लगी हैं, प्राणवायु विरोधी द्रव्य बढ़ने लगा है, इसी को हम प्रदूषण कह रहे हैं।

ऐसी स्थिति में ब्रह्माण्डीय किरण जो पानी बनने के लिए संयोजक रहा है, ऐसे प्रदूषण के संयोजन वश इसके विपरीत घटना का कारण (पानी के विघटन का कारण) बन सकता है। ऐसी स्थिति में मानव का क्या हाल होगा ? इस भीषण दुर्घटना का धरती के छाती पर हम जितने भी विज्ञानी ज्ञानी, अज्ञानी कहलाते हैं, प्रौद्योगिकी संसार के कर्णधार

कहलाते हैं, क्या इनके पास इसका कोई उत्तर है। इस बात का उत्तर देने वाला कोई दिखता नहीं। क्योंकि, जिम्मेदारी कोई स्वीकारता नहीं। यही इसका गवाही है। जिम्मेदारी स्वीकारने में परेशानी है, क्योंकि व्यक्ति प्रायश्चित के लिए उत्तर दायी हो जाता है। इसलिए इसके सुधार के लिए प्रयास ही एकमात्र कर्त्तव्य लगता है। इसकी औचित्यता अधिकाधिक लोगों को स्वीकार होता है।

चौथी विपदा धरती के ताप ग्रस्त होने के आधार पर धरती के चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र का विचलित होना भी एक संभावना है। इस धरती में उत्तर और दक्षिणी ध्रुव के बीच, स्वयं स्फूर्त विधि से चुम्बकीय धारा अथवा चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र बना हुआ है। इस बात को भी स्वीकारा गया है। इसी आधार पर दिशा सूचक यंत्र तंत्र बनाकर प्रयोग कर चुके हैं। इस विधि से जो ध्रुव से ध्रुव अपने संबद्धता को बनाये रखा है, इसके आधार पर ही धरती के ठोस होने का अविरल कार्य संपादित होता रहा। इससे धरती के परत से परत ऊष्मा संग्रहण, पाचन, संतुलनीकरण संपादित होती रही। इससे धरती का स्वास्थ्य, ताप के रूप में संतुलित रहने की व्यवस्था बनी रही है। अभी धरती के असंतुलित होने की घोषणा तो मानव करता है, किन्तु उसके दायित्व को स्वीकारता नहीं, इसलिए उपायों को खोजना बनता नहीं, फलस्वरूप निराकरण होना बनता नहीं। इस क्रम में आगे और धरती में ताप बढ़ने की संभावना को स्वीकारा जा रहा है यह इस बात के लिए आगाह करता है - ध्रुव से ध्रुव तक संबद्ध चुम्बकीय धारा, किसी ताप तक पहुँचने के बाद, विचलित हो सकती है, इससे यह धरती अपने आप में ठोस होने के स्थान पर बिखरने लग जाना स्वभाविक है। यह बिखर जाने के बाद धूल के रूप में मानव की कल्पना में आता है। इसके उपरान्त मानव कहाँ रहेगा, जीव जानवर कहाँ रहेंगे, हरियाली कहाँ रहेगी, पानी कहाँ रहेगा, पानी की आवर्तनशीलता की व्यवस्था कहाँ रहेगा। ये सब विलोम घटनायें मानव के मानस को काफी घायल करने के स्थिति में तो हैं।

इसके उपचार का उपक्रम यही है कि कोयले और खनिज तेल से जो-जो काम होना है, उसका विकल्प पहचानना होगा। कोयला और खनिज तेल के प्रयोग को रोक देना ही एकमात्र उपाय है। इसी के साथ विकिरणीय ईंधन प्रणाली भी धरती और धरती के वातावरण के लिए घातक होना, हम स्वीकार चुके हैं। विकिरण विधि से ईंधन घातक है, कोयला, खनिज विधि से ईंधन भी घातक है। इनके उपयोग को रोक देना मानव का पहला

कर्त्तव्य है। दूसरा कर्त्तव्य है मानव सुविधा को बनाये रखने के लिए ईंधन व्यवस्था के विकल्प को प्राप्त कर लेना। यह विकल्प स्वभाविक रूप में दिखाई पड़ता है - प्रवाह बल को विद्युत ऊर्जा में परिवर्तित कर लेना। इस अकेले स्रोत के प्रावधान से, प्रदूषण रहित प्रणाली से, विद्युत ऊर्जा आवश्यकता से अधिक उपलब्ध हो सकती है। इसी के साथ समृद्ध होने के लिए हवा का दबाव, समुद्र तरंगों का दबाव, गोबर गैस, प्राकृतिक गैस जो स्वभाविक रूप में धरती के भीतर से आकाश की ओर गमन करती रहती है, ऐसे सभी स्रोतों का भरपूर उपयोग करना मानव के हित में है, मानव के सुख समृद्धि के अर्थ में है। कुछ ऐसे यंत्र जो तेल से ही चलने वाले हैं, उनके लिए खाद्य, अखाद्य तेलों (वनस्पति, पेड़ों से प्राप्त) को विभिन्न संयोगों से यंत्रोपयोगी बनाने के शोध को पूरा कर लेना चाहिए। तभी मानव यंत्रों से प्राप्त सुविधाओं को बनाये भी रख सकता है। ईंधन समृद्धि बना रह सकता है। तैलीय प्रयोजनों के लिए जंगलों में तैलीय वृक्षों का प्रवर्तन किया जाना संभव है ही, सड़क, बाग बगीचों में भी यह हो सकता है। किसानों के खेत के मेंड़ पर भी हो सकता है, यह केवल मानव में सद्‌बुद्धि के आधार पर संपन्न होने वाला कार्यक्रम है। धरती के ऊपरी सतह में विशाल संभावनायें है, ऊर्जा स्रोत बनाने की, ईंधन स्रोत बनाने की। दबाव स्रोत, प्रवाह स्रोत, सौर्य ऊर्जा स्रोत, ये सब स्वभाविक रूप में प्रचुर मात्रा में हैं ही। इनके साथ ही तैलीय वृक्षों के विपुलीकरण की संभावना धरती पर ही है। धरती के भीतर ऐसा कुछ भी स्रोत नहीं है। जो है केवल धरती को स्वस्थ रखने के लिए है। यदि सही परीक्षण, निरीक्षण करें तो धरती के सतह पर ही संपूर्ण सौभाग्य स्रोत है। धरती के भीतर, ऊपरी हिस्से के समान या सदृश्य कोई स्रोत दिखाई नहीं पड़ती।

इसी क्रम में और भी एक तथ्य याद रखने योग्य है। धरती के पाताली जल स्रोत के ओर दृष्टि गयी, कुल 25-30 वर्ष में ही सर्वाधिक जगह में पाताली जल स्रोत क्षीण हो गया। फलस्वरूप, ऊपरी जल स्रोत सूख गया तालाब, बावड़ी सूख गये। मानव बर्बादी की ओर चल दिया। इस मुद्‌दे पर थोड़ा सा ध्यान दें। धरती के ऊपरी हिस्से में जितनी विशालता है, हरेक 10 फुट में विशालता घटती जाती है। इसको परीक्षण, निरीक्षण हर विद्यार्थी कर सकता है। जैसे एक गोल वृत्त बनायें, यह आसानी से हाथ से भी बनता है, कम्पास से भी बनता है। उसके बाद आधे-आधे में एक-एक वृत्त भीतर बनायें, भीतर बना वृत्त छोटा होता जाता है, इस प्रकार धरती का भीतरी सतह ऊपरी सतह से छोटा ही होता जाता है। हम मानव

भ्रमवश पाताली स्रोतों में ऊपरी सतह से ज्यादा मिलने के उम्मीद से जूझ गये। इससे भी अपूर्व क्षति घटित हो चुकी है। इस मुद्दे पर सार्थक विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि पाताली जल का स्रोत धरती की ऊपरी सतह पर बहता हुआ जल ही है। इस धरती के ऊपरी हिस्से में जल फैला है, बह रहा है, इनकी आवर्तनशीलता बनी ही रहती है। यह सीधा सूर्य ऊष्मा के सम्पर्क में होने के फलस्वरूप, धरती पर जल का वाष्पित होना, यही वाष्प सघन होकर बादल के रूप में परिणित होना, ऐसे बना हुआ बादल किसी अवधि तक समृद्ध होना, ऐसे समृद्ध होने का फलन में पुनः धरती पर बूंद-बूंद के रूप में वर्षा होना, यह आवर्तनशीलता देखने को मिलता है। इसमें यही सार्थक होना सुनिश्चित होता है, धरती पर जल को ज्यादा जगह में फैला कर रोका जाय, रखा जाय। इसी से मानव का भविष्य सुरक्षित हो सकता है।

इसके साथ-साथ और भी ध्यान देने पर पता लगता है कि प्राणावस्था का वैभव, जीवावस्था और ज्ञानावस्था का वैभव, कार्यकलाप, कार्य-व्यवहार की शुभ स्थली धरती के ऊपरी सतह पर ही प्रमाणित है। ये तीनों अवस्थायें धरती के भीतर कहीं भी वैभवित नहीं हो पाती। इसी के साथ यह भी देखने को मिलता है, खगोलीय प्रकाश ऊपरी हिस्से में ही प्रतिबिम्बित होती है। धरती अपारदर्शी होने के आधार पर खगोलीय प्रकाश धरती में पारगामी होना संभव नहीं है। इन सभी तथ्यों पर मानव को ही ध्यान देना आवश्यक है। क्योंकि मानव ही धरती के भीतरी हिस्से में हस्तक्षेप किया है, इसका परिणाम अशुभ हो चुका है। इसका स्पष्टीकरण हो चुका है। मानव शुभ ही चाहता है। शुभ सूत्र और व्याख्या में पारंगत होने की आवश्यकता है। ऐसे शुभ सूत्र और व्याख्या अथवा सर्व शुभ सूत्र और व्याख्या के आधार पर सह अस्तित्व विधि अर्थात् नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तितव को प्रमाणित करता हुआ जीता है। सार्वभौमता शुभ का सूत्र और व्याख्या है। इस बात को हम अच्छी तरह समझ चुके हैं। पहले व्याख्या कर चुके हैं, अखंडता सूत्र है सार्वभौमता व्याख्या है, इसका धारक-वाहक मानव ही है। यही जागृति का प्रमाण है, सौभाग्य का वैभव है। यही मानव की चाहत भी है, इसीलिए सभी अनुचित, अनावश्यक, अनर्थकारी प्रवृत्तियाँ, कार्य-व्यवहार, विन्यास, मानव के द्वारा भ्रमवश घटित हो चुकी, उसे जागृति पूर्वक सुधार लेना ही मानव का सम्मान है, साथ में सौभाग्य है।

8. स्थिति-गति

मानव जागृति पूर्वक स्थिति-गति में प्रमाणित होना चाहता है। ऐसे प्रमाण स्वयं के भी और सम्पूर्ण के भी संबंध में आशित हैं। सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना होगा कि स्थिति, गति अविभाज्य है। 'होना', 'गतित रहना' इसका मूल प्रमाण है। एक परमाणु भी होने के आधार पर गतित रहता है। ग्रह गोल भी होने के आधार पर गतित रहता है। सम्पूर्ण पदार्थ संसार 'होने' के आधार पर ही रचना विरचना रूपी गति को बनाये रखता है। सारे वनस्पति भी होने के आधार पर ही, पुष्टि के रूप में गतित रहते हैं। संपूर्ण जीव संसार भी होने के आधार पर ही गतित रहता है। मानव जागृति होने के आधार पर ही गति को प्रमाणित करता है। इस प्रकार सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में नित्य प्रतिष्ठा प्राप्त संपूर्ण वस्तु स्थिति-गति के रूप में वर्तमान है। इस विधि से संपूर्ण स्थिति-गति अविभाज्य है। स्थिति में बल, गति में शक्ति अथवा स्थिति को बल, गति को शक्ति के रूप में देखा जाता है और बल और शक्ति अविभाज्य है ही।

इस स्थिति-गति की अविभाज्यता को मानव में होने वाली जीवन क्रियाओं में भी देखा जाता है। मानव में अनुभव के रूप में स्थिति, प्रमाण के रूप में गति दिखाई पड़ती है। यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता का बोध सहित बुद्धि ही स्थिति एवं उसे प्रकाशित करने की प्रवृत्ति के रूप में संकल्प ही गति है। बोध ही अनुभव और प्रमाण का अभिव्यक्ति है। अनुभव प्रमाण (जीता हुआ साक्ष्य) बोध स्वीकृति, अभिव्यक्ति सूचना; ऐसा सूचना दूसरों के अनुभव के लिए प्रयोजन है। न्याय, धर्म, सत्य के साक्षात्कार चिंतन करने के रूप में चित्त में स्थिति और इसका चित्रण के रूप में चित्रित हो पाना गति है। चित्त क्रियाकलाप का सम्पूर्ण चित्रण तुलन के रूप में अर्थात् न्याय, धर्म व सत्य रूप में स्पष्ट होना वृत्ति सहज स्थिति है, वृत्ति में सम्पन्न हुये तुलन का विश्लेषण विधि में विश्लेषित होना व सम्प्रेषित होना वृत्ति सहज विचार गति है। विश्लेषण के स्पष्ट अथवा सार रूप में मूल्य स्वीकृत होता है। इसे आस्वादन करना ही मन की स्थिति है, इसकी सार्थकता के लिये चयन क्रिया को सम्पादित करने के रूप में गतित होना हर मानव में सर्वेक्षित है। इस ढंग से मानव भी सभी प्रकार से स्थिति-गति में होना स्पष्ट होता है। इस प्रकार मानव समझदारी से सम्पन्न होने के उपरान्त

प्रमाणित होना स्वभाविक होता है। इसका मतलब यही हुआ हम जब तक प्रमाणित नहीं होते, तब तक प्रमाणित होने के लिए ज्ञानार्जन, विवेकार्जन, विज्ञानार्जन कर लेना ही शिक्षा और शिक्षण का तात्पर्य है। इसके लिए सह अस्तित्ववादी शिक्षा क्रम समीचीन है। अतएव समझदार मानव होने के लिए ध्यान देने की आवश्यकता है।

सह-अस्तित्ववादी विचार, ज्ञान, विवेक, विज्ञान को समझना ही समझदारी है। क्योंकि आदर्शवाद और भौतिक वाद के अनुसार जितना जीये, समझे, उससे कोई सर्वशुभ विधि प्रतिपादित नहीं हो पायी। इसे स्पष्ट रूप में रेखांकित कर लेने की आवश्यकता है। सर्वशुभ का स्रोत सह-अस्तित्ववादी ज्ञान, विचार रूपी विज्ञान, विवेक ही है। इसे बहुत आसानी से समझ भी सकते हैं, समझा भी सकते हैं। जीने दे सकते हैं, जी भी सकते हैं हम हर व्यक्ति समझदारी की स्थिति गति में प्रमाणित हो सकते हैं, और लोगों को प्रमाणित होने के लिए प्रवृत्त कर सकते हैं। यही समझदारी का लोकव्यापीकरण विधि है, सम्पूर्ण मानव का स्थिति गति में प्रमाणित होना। सम्पूर्ण स्थितियाँ सार्वभौमिक और अखंड समाज संबंध के रूप में स्पष्ट है। इन सभी सोपानों में भागीदारी करना ही प्रमाण का तात्पर्य है। ऐसे प्रमाण मानव में, से, के लिए अनुभव मूलक विधि से परावर्तित होते हैं। ऐसे अनुभवमूलक प्रमाण सार्वभौम होते हैं, इसके लिए जीकर देखना ही एकमात्र उपाय है।

मानव विज्ञान विधा में पारंगत होना चाहता है। पारंगत होने में अभी तक की प्रायोगिक, व्यवहारिक अड़चन यही दो मुद्दे में सिमटा। पहला, अंतिम सत्य का अता-पता नहीं हो पाया, दूसरा मूल मात्रा, ऊर्जा स्रोत व लक्ष्य का पता नहीं चल पाया, तीसरा - मानव का अध्ययन न हो पाना, चौथा - अस्तित्व का प्रयोजन स्पष्ट न हो पाना रहा। इस ढंग से विज्ञान में इतना लम्बी चौड़ी निष्ठा से प्रयोग करने के उपरान्त भी सभी स्पष्ट रूप से जीना चाहने वाले कुंठित हो बैठे। इस मुद्दे पर पहले यह तय हुआ कि भौतिकवादी विधि से अथवा आदर्शवादी विधि से विज्ञान के सामने जितने भी दावे आते हैं अर्थात् प्रश्न चिन्ह आते हैं, उसे आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक ध्रुवों के आधार पर हल करने का प्रयास किया जाय। परन्तु इस आधार पर कोई सार्थक दृष्टि के अनुसार तर्कसंगत और प्रयोजन संगत कार्य व्यवहार, व्यवस्था परंपरा को स्थापित नहीं कर पाया। इसकी अपेक्षा शुभ चाहने वाले, दूसरी भाषा में सर्वशुभ चाहने वाले हर नर-नारी, में ऐसी चाहत पायी जा रही है। दूसरी

ओर कुंठित होने वाली बात स्पष्ट हो चुकी है। कुंठित होने वालों में भी बहुत से लोग सर्वशुभ चाहते ही होंगे। शुभ चाहने वाली विधि से तर्क संगत करने जाते हैं तो सर्वशुभ ही ध्रुव होता है। अब यहाँ सर्वशुभ की चाहत को सर्व मानव की स्वीकृति अथवा सर्वाधिक की स्वीकृति मानते हुए, आगे और सोचने, समझने, प्रमाणों को प्रस्तुत करने के क्रम में इस आलेख को आगे बढ़ाया है।

अभी तक जो भी विज्ञान कहलाने वाली विधियाँ रही हैं, उनमें निम्नलिखित बिन्दुओं को स्पष्ट करने की परिकल्पना, प्रमाण, उन्हीं के दृष्टिकोण से रही है। विज्ञान का दृष्टिकोण संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध है। इसके आधार पर मानवेत्तर संपूर्ण प्रकृति, मानव के लिए, मानव के उपयोग करने के लिए है। मानव में, से वही इसको उपयोग करने योग्य है, जो सबसे ज्यादा शक्तिशाली है। अर्थात् जो दूसरे को मारपीट, लूटपाट, हत्या, आतंक, जानमारी करता है। इसमें आगे यह भी तर्क हो सकता है विज्ञान ने क्या ऐसा कहीं घोषणा किया है। विज्ञान का घोषणा एक दस्तावेज के रूप में नहीं है। विज्ञान के अर्थ में जो-जो जीने गये हैं, अर्थात् विज्ञान को हवाला देते हुए अपने मन्तव्य रूपी प्रबंधों को रचना दिये हैं, उनमें इस प्रकार का उल्लेख होना पाया जाता है।

इसमें मुख्य घोषणा अनिश्चितता अस्थिरता, बिन्दु उसमें से स्पष्ट होती है - विज्ञान अपने में स्वतंत्र है विज्ञानी नहीं। इस बात की पुष्टि वैज्ञानिक दस्तावेजों में मिलती ही है। इसमें प्रश्न यही आता है - विज्ञान की जिम्मेदारी किताब है या मानव है। इस क्रम में किताब के रूप में जो दस्तावेज है, आगे चलकर यंत्र से जो प्रमाणित होगा वह सच्चाई है, अन्तिम सत्य भले न हो, ऐसी मान्यता निष्पन्न हो चुकी है। इसका निष्कर्ष यही निकला, यंत्र ही प्रधान प्रमाण हुआ। इस विधि से जिम्मेदारी मानव पर न होकर, यंत्रों पर थोपी गयी। इसमें मानव सोच की सुविधा यही हो सकती है कि तर्क के उलझनों को पैदा न करना। तर्क का प्रयोग मानव ही करेगा। यंत्रों के साथ कोई तर्क हो ही नहीं सकता, क्योंकि यंत्र जो करता है, बार-बार करता रहता है। इस प्रकार बार-बार दोहराना ही विश्वास का आधार अथवा भरोसा का आधार माना गया। इस प्रकार विज्ञान गतिविधियों के अनुसार मानव जिम्मेदारियों से दूर है। जबकि यंत्रों को मानव बनाता है।

निरीक्षण परीक्षण की स्थिति में हम पाते हैं कि हर मानव जिम्मेदारी का पक्षधर है।

हर मानव न्याय का पक्षधर है, हर मानव व्यवस्था का पक्षधर है। इन सबके मूल में हर मानव समझदारी के पक्ष में है।

इस बात का उल्लेख अवश्य है कि हम मानव परिभाषा के रूप में मनाकार को साकार करने वाले हैं और मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने में प्रचलित शिक्षा-विधि से असमर्थ रहे हैं। मनःस्वस्थता ही मानव की मौलिकता है इस मौलिकता को प्रमाणित करने के क्रम में ही मानव सुखी होने के तथ्य को हम अपने में जांच कर प्रमाणित कर चुके हैं। यह सह-अस्तित्व विधि से सफल है। हर विधा में हम समाधानपूर्वक जीकर ही सुखी होते हैं। समाधान पूर्वक जीने का सूत्र समझदारी पूर्वक ही सार्थक होना पाया गया। समझदारी सहअस्तित्व पूर्ण दृष्टिकोण से सम्पन्न होता है। इस क्रम में समझदारी का नित्य स्रोत तीन विधा में होना पहले से हम समझ चुके हैं। यह तो पहले से अभी तक प्रस्तुत किया गया अध्ययन से विदित हो चुका है कि आदर्श वादी विधि, भौतिक वादी विधि से, तार्किक विधियों से समझदारी प्रमाणित नहीं हो पाती। प्रस्तावित सहअस्तित्व वादी विधि से ही, अनुभव मूलक विधि से हर नर-नारी समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और भागीदारी के रूप में मानवीय आचरण पूर्वक सर्वतोमुखी समाधान को प्रमाणित कर सकते हैं। स्वयं में सदा-सदा सुख का अनुभव कर सकते हैं क्योंकि सार्वभौम समाधान सम्पन्न होना ही समझदारी की सर्वप्रथम सीढ़ी है। हर जागृत मानव में यह विद्यमान रहता ही है। इसी कारणवश सदा-सदा सुखी होने की संभावना भी समायी रहती है। इसी आधार पर प्रमाणित होने की आवश्यकता बनी रहती है। इस प्रकार हर समझदार मानव परम्परा में, से, के लिए जिम्मेदार होना, उपकारी होना संभावित हो गया। उपकार का तात्पर्य भी स्पष्ट है। जागृति के अर्थ में समझा हुआ को समझाना, किये हुए को कराना, सीखे हुए को सिखाना, यह सब समाधानकारी होना फलतः उपकार सार्थक होना होता है। इस ढंग से मानव कैसा उपकारी हो सकता है, स्पष्ट हुआ है। यह भी स्पष्ट हुआ कि हम सब समझदार मानने वाले, नासमझ मानने वाले कैसे समस्याओं को निर्मित किया। इसी के साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि विज्ञान संसार मानसिकता, प्रबोधन कार्यों में जिम्मेदारियों से बहुत दूर पहुँचने के क्रम में, यंत्र के समान मानव को पहचानने की कोशिश की, इसमें सर्वथा असफल हुआ।

सह-अस्तित्व विधि से स्पष्ट न होने वाली कोई वस्तु ही नहीं है। सम्पूर्ण वस्तु को

जो समझने योग्य है, समझता है, समझा गया भी है। समझे हुए को समझाना एक स्वयं स्फूर्त क्रिया है। इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त का आधार स्पष्ट हो गया। मानव चाहता हुआ को प्रमाणित कर पाया, समझा पाया। यही व्यक्त होने का प्रमाण है। इसी के साथ जीना भी होता है जो हम समझा मानते रहे हैं, वह समझा नहीं पाये, यही अव्यक्त कहा गया। जबकि सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व नित्य वर्तमान और व्यक्त है, इसमें कुछ भी अव्यक्त नहीं है।

9. मात्रा

एक-एक के रूप में जो वस्तु विद्यमान है, वस्तु का तात्पर्य वास्तविकता को व्यक्त करने से है। वास्तविकता हर वस्तु में त्व सहित व्यवस्था है। वास्तविकतायें रूप, गुण, स्वभाव, धर्म तक एक दूसरे के साथ अविभाज्य रूप में वर्तमान हैं। अर्थात् मात्रा के साथ रूप, गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य रूप में व्यक्त है। व्यक्त होने के मूल में सहअस्तित्व की अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन है। सहअस्तित्व में प्रत्येक एक इकाई, व्यापक वस्तु में डूबा, भीगा, घिरा होने के रूप में स्पष्ट हो चुका है। व्यापक वस्तु संपूर्ण एक-एक में पारगामी और पारदर्शी होना भी स्पष्ट हो चुका है। प्रत्येक एक-एक व्यापक में भीगे रहने के फलस्वरूप ही ऊर्जा सम्पन्न, चुम्बकीय बल सम्पन्न होना पाया जाता है।

प्रत्येक परमाणु ही मूल मात्रा है। ऐसे अनेक परमाणुयें अणु के रूप में, अनेक अणुयें अणु रचना के रूप में, ऐसे रचनायें पदार्थ व प्राणावस्था के रूप में होना भी पहले से स्पष्ट किया है। हर प्रजाति में दो अंश दो से अनेक अंशों से घटित परमाणुयें अपने-अपने आचरणों को स्पष्ट किये हैं।

मूल मात्रा परमाणु होना इसलिए स्पष्ट हुआ है कि इकाई जो परिभाषित होती है यह स्वयं में व्यवस्था हो और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करती हो। इकाई व्यवस्था में न हो ऐसी इकाईयों में भी व्यवस्था में भागीदारी की प्रवृत्ति होना पायी जाती है जैसा परमाणु अंश और भ्रमित मानव। परमाणु अंश स्वयं में व्यवस्था को प्रमाणित नहीं कर पाता अर्थात् निश्चित आवश्यकता को व्यक्त नहीं कर पाता इसलिए हर परमाणु अंश, परमाणु में भागीदारी करने, फलतः व्यवस्था को प्रमाणित करने के अर्थ में प्रवर्तनशील है। इसका प्रमाण यह है कि हर परमाणु अंश किसी न किसी परमाणु में समा जाता है। अथवा एक से अधिक परमाणु अंश एक दूसरे को पहचानते हुए परमाणु के रूप में कार्यरत हो जाते हैं, फलतः निश्चित आचरण ही व्यवस्था के रूप में ख्यात होता है। इससे पता चलता है कि परमाणु अंश एक दूसरे को पहचानते हैं और निर्वाह करते हैं, परमाणु में निश्चित आचरण स्पष्ट है।

जैसा परमाणु अंश एक दूसरे को पहचाने बिना व्यवस्था में नहीं होता है, वैसे ही

मानव मानव को पहचाने बिना व्यवस्था में जीना होता ही नहीं। मानव को पहचानने का एक ही सूत्र है - मानवत्व। मानवत्व मानव चेतना ही है, जो सर्व मानव को मानव के रूप में पहचाना जा सकता है। मानवत्व अपने स्वरूप में मानव परिभाषा का स्वरूप ही है। मनः स्वस्थता के अर्थ में ही सह-अस्तित्ववादी विधि से विज्ञान विधा से भी मनःस्वस्थता का सूत्र रूप विश्लेषित और निर्धारित व्याख्यायित है। ऐसा निर्धारण, मानव लक्ष्य के अर्थ में ही होना आवश्यक है। इसी क्रम में सहअस्तित्व वादी विधि से हम समझ चुके हैं कि मानव को अपनी आवश्यकता को सुदृढ़ रूप में पहचानने की आवश्यकता है ही। इस आवश्यकता की निश्चयता अर्थात् मानवीयतापूर्ण आवश्यकता की निश्चयता-समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व रूपी मानवत्व को प्रमाणित करने के रूप में होना पाया जाता है। इसका मतलब यही है कि हम मानव, मानवीय लक्ष्य को प्रमाणित करने के क्रम में ही, मानवीयता पूर्ण आचरण को स्पष्ट कर पाते हैं। मानवीय आवश्यकता निर्धारित होना, जानने-मानने का द्योतक है। जानना-मानना ही प्रमाणित होने का आचरण ही सूत्र व्याख्या है।

मात्रा सिद्धान्त भी मूल में इन्हीं अर्थों से अनुप्राणित रहना स्वभाविक है। इसलिए एक से अधिक अंश एकत्रित होकर कार्य करते हुए, अर्थात् आचरण करते हुए, परमाणुओं की अनेक प्रजातियाँ उनके आचरण के आधार पर पहचानने योग्य रहती हैं। इसे मानव पहचानता है, मानव सहज अर्हता की यह गरिमामय स्थिति बनती है। इसके मूल में जानना, मानना का पुट ही रहता है। इसी प्रकार प्राणकोषाओं से रचित रचनाओं में भी प्राणकोषाओं का रचना निश्चित रहना होता है। इसका प्रमाण ही है अनेक प्रजातियों की वनस्पतियों की रचना, इन सब में बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज तक अनुप्राणित रहना अर्थात् एक बीज से वृक्ष तक प्रेरणाएँ, वृक्ष से बीज तक प्रेरणायें, उन्हीं बीज वृक्ष में समायी रहती हैं। इन्हीं उभय प्रकार की प्रेरणा में उन प्रजाति के वृक्षों के आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार हम मानव किसी भी वस्तु को सुदृढ़ रूप में पहचानते हैं, उसका आधार सुदृढ़ आवश्यकता ही रहता है। इसी प्रकार चींटी से हाथी तक, कुत्ते से बिल्ली तक, गाय, बाघ, मुर्गी, कीट आदि के आचरण के बारे में मानव आश्वस्त हो गया है। इनके साथ आवश्यक विधि को मानव अपनाया भी है। यह आवश्यक विधि मानवेत्तर संसार तक प्रकारान्तर में सम्पन्न हुआ जैसा लगता भी है। जब उसी क्रम में मानव, मानव को पहचानने की स्थिति में आते हैं, तब हम संदिग्धता को महसूस करते हैं कि हम पहचान पा रहे हैं कि नहीं। इस संदिग्धता के लिए

मानव परंपरा में जातिगत, विचारगत, संप्रदायगत, पद और पैसा से संबंधित विधि से विवाद बना रहता है। फलस्वरूप द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध प्रभावशील है। प्रभावशील होने का तात्पर्य ये दुर्घटनायें घटित होती रहती हैं।

मानव अपने को यदि मात्रा ही माने, तब भी क्या मानव की आवश्यकता स्पष्ट हुई है ? केवल मात्रा ही मानकर सोचने पर भी ऐसा लगता है, हम मानव स्वयं की आवश्यकता को निर्धारित नहीं कर पाये इसी कारण आवश्यकता अनिश्चित बनी रही और आवश्यकता के आधार पर भी हम व्यवस्था की सार्वभौमिकता को, उसके ध्रुवों को पहचान नहीं पाये। मानवत्व का एक ध्रुव मानव अपने आवश्यकता ही है, जो व्यवहार में, उत्पादन कार्य में समाधान पूर्वक व्यवस्था में भागीदारी करने के रूप में प्रमाणित होता है।

मानव आवश्यकता स्वयं में सुस्पष्ट है - समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व। इसका प्रमाण मूल्य, चरित्र, नैतिकता रूपी मानवीय आचरण पूर्वक सफल होता है। इसको प्रयोग करके देखा गया। यह आदर्शवाद व भौतिकवाद विधि से प्रमाणित होता नहीं। इसलिए यही अर्थात् सह-अस्तित्ववादी विधि से मानव लक्ष्य और आचरण अध्ययन सुलभ है। इसे सार्वभौम रूप से अथवा सर्वमानव में सफल करना ही अथवा होना ही जागृत मानव परम्परा का वैभव है। मूल्य, चरित्र, नैतिकता को प्रमाणित करने के रूप में मानव अपने से कुछ न कुछ करता ही रहा है। क्यों न ऐसा सोचा जाय कि मानव आवश्यकता के अर्थ में यह सब करना हो जाय। ऐसा निश्चय हर व्यक्ति कर सकता है। किसी आयु के अनंतर ऐसा निश्चय होने की आवश्यकता महसूस होती हुई भी देखने को मिलती है। सर्वाधिक मानव 12-14 वर्ष के आयु से 20 वर्ष के बीच सर्वाधिक रूप में, सर्वाधिक मानसिकता के रूप में समाज में न्याय, सबके अनुकूल व्यवस्था, सबको सुख मिलने की अपेक्षा, ये बनाये रहता है। परन्तु, इस मानसिकता की, किसी खेमें से जुड़कर शनैः-शनैः हत्या हो जाती है अर्थात् ये कुंठित हो जाते हैं। इसके बाद यही शेष रह जाता है, जिस संप्रदाय वर्ग मानसिकता से प्रतिबद्ध रहते हैं, अथवा माने रहते हैं उसी को हम सही मान लेते हैं, उचित मान लेते हैं। फलस्वरूप, परस्परता में द्रोह विद्रोह वाली शोषण युद्ध वाली बातों में तुल जाते हैं।

सर्वमानव किसी आयु में सर्वाधिक लोगों के लिए अर्थात् सर्वमानव में शुभ चाहते रहे, इसके पुष्टि में सह अस्तित्व रूपी अध्ययन में इसकी संभावना सुलभ हुई है। अभी एक

ही मानव, किसी आयु तक सबका अथवा ज्यादा लोगों का सुख चाहता और कुछ अधिक आयु के अनन्तर अपने परिवार, स्वयं की सुविधा संग्रह पर तुल जाने के रूप में देखने को मिलता है। इनमें सन्तुलन स्थापित करने के लिए मध्यस्थ दर्शन (सह-अस्तित्ववाद) के अनुसार चेतना विकास मूल्य शिक्षा सुलभ अर्थात् सह-अस्तित्ववादी शिक्षा का लोकव्यापीकरण करने की आवश्यकता है। चारो अवस्था में संतुलित बिन्दु में लाने के लिए सहअस्तित्ववादी विधि को अपनाना ही होगा।

सभी वस्तुयें अपने सूक्ष्म रूप में, परमाणु के रूप में मूल मात्रा है। रचना के रूप में बड़े-छोटे इकाईयों के रूप में हमें उपलब्ध है, खनिज के रूप में उपलब्ध है। इन उपलब्धि के साथ हमारे भविष्य की डोरी बंधी रहती है। आज हमने जो कुछ भी आचरण किया, कार्य-व्यवहार किया, अव्यवस्था में आचरण किया, इसका फल परिणाम आज न हो, वर्षों में भी हो, हमें भोगना ही पड़ेगा। इस प्रयत्न से यह भी समझ में आता है कि वर्तमान में हमें सदा-सदा के लिए समझदार होना ही है। समझदार रहने के लिए आवश्यक है कि समझदारी परंपरा को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील भी रहना है। यही मानव की स्थिति-गति का मतलब है।

हर मात्रा में स्थिति-गति एक स्वभाविक क्रिया है। स्थिति, गति के संयुक्त रूप में ही हर क्रिया को पहचाना जाता है। वस्तु के आचरण को पहचाना जाता है, गति में आचरण स्थिति में फलन बना रहता है। यही यथास्थिति का स्वरूप है। इसी में यथास्थिति का सूत्र, व्याख्या समाया रहता है। जैसे लोहे में कठोरता भौतिक आवश्यकता है। उसके स्थिति गति में ही इसका प्रमाण हो पाता है। लोहा का उपयोग करना उसका गतिशीलता का तात्पर्य हुआ। जैसा मानव अपने शक्ति को, बल को प्रभावित कर लोहे का परीक्षण करता है, तभी लोहे के प्रति विश्वास हो पाता है। इसमें मानव काफी सफल हो चुका है। बहुत सारी वस्तुओं के साथ परीक्षण-निरीक्षण किया जा चुका है। निश्चय को पाया गया है, इस निश्चयता के आधार पर अनेक प्रौद्योगिकी कार्यशील रहना देखा जा रहा है। इन्हीं में किसी प्रौद्योगिकी में भागीदारी करने की इच्छा से ही तकनीकी शिक्षा को हम आचरण करते हैं। इसमें सार्थकता भी दिखायी पड़ती है। इसका प्रमाण अनेक लोग प्रौद्योगिकी में भागीदारी करते हैं। प्रौद्योगिकी विधा में अनेक लोग सफल होते हुए भी मन: स्वस्थता में प्रमाणित होना अभी

तक बना नहीं। मनःस्वस्थता के विधा में प्रमाणित होने के लिए मानव को पहचानना प्रधान हो जाता है। मानव को पहचाने बिना मनः स्वस्थता का प्रमाण होता नहीं है। मानव का पहचानना समाधान, समृद्धि पूर्वक जीता हुआ, न्याय को प्रमाणित करने से ही होता है। न्याय अपने में संबंध मूल्य, मूल्यांकन, उभय तृप्ति के रूप में स्पष्ट होना पाया जाता है।

स्वयं मानवीयता पूर्ण आचरण किये बिना दूसरे मानव में मानवीय आचरण को पहचानना बना ही नहीं। इसका प्रयोग इस प्रकार से किया जा सकता है। एक व्यक्ति जो मानवीय आचरण करता है, और दूसरा भी करता है, इनकी परस्परता में कार्य व्यवहार को आंकलित किया जाय और प्रयोग अनुसंधान को भी आंकलित किया जाय तो मानवीय आचरण का मूल्यांकन परस्परता में हो पाता है, मूल्यांकन परस्परता में ही होगा स्पष्ट हो जाता है। इसी क्रम में आगे एक व्यक्ति मानवीय आचरण करता है, दूसरा करता नहीं, उस स्थिति में करने वाले को स्वयं में विश्वास रहता है, न करने वाले को स्वयं में विश्वास रहता नहीं। तीसरी स्थिति यही है - दोनों मानवीय आचरण करते नहीं है, तब व्यसनों के संवाद में, व्यसनों में सहमत होने की बात आती है, अपराधिक कार्य, अपराधिक विचारों में कुछ-कुछ सहमत होने और असहमत होने वाली स्थिति आती है, इस प्रकार जाँचने से कोई निष्कर्ष निकलता नहीं है।

उक्त घटनाओं से हमें यह पता लगता है कि हर जागृत मानव अपने में व्यवस्था रूपी आचरण पूर्वक ही अपनी पहचान बनाये रखता है। यही यथास्थिति का निश्चयन है। यथास्थितियों का निश्चयन विधि से हम यह अध्ययन कर चुके हैं। पदार्थावस्था का निश्चयन, प्राणावस्था, जीवावस्था का निश्चयन विधियाँ विश्वास योग्य हो चुकी हैं। मानव अभी तक इन तीनों अवस्थाओं में विश्वास किया है, उसी के आधार पर अपने ढंग से सफलता भी पाया है। अपने ढंग का मतलब संग्रह सुविधा के अर्थ में सफलता को प्राप्त कर चुका है। भले ही सबको संग्रह सुविधा न मिला हो। इस प्रकार हम मानव अपने आवश्यकता को सुदृढ़ रूप में, परिपक्वता विधि से, प्रमाणित करने के क्रम में ही अखण्ड समाज तक पहुँचने की संभावना है। अखण्ड समाज सूत्र सार्थक होने के उपरान्त ही सार्वभौम व्यवस्था व्याख्यायित होता है। यही विज्ञान और विवेक का सार्थक कारगर स्वरूप होगी। इस क्रम में हमारे ध्यान देने का मुद्दा मानव, मानवत्व, मानवीयता पूर्ण आचरण, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था सूत्र,

व्याख्या का अध्ययन है। इन अध्ययन कार्यों में एक प्रधान मुद्दा यह है हर मानव का क्या प्रयोजन है। हर मानव का प्रयोजन यही है आचरण में सुदृढ़ता। इसके अनंतर प्रयोजन है, व्यवस्था में प्रमाण आचरण का। इसके बाद प्रयोजन की अंतिम ऊँचाई है सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी।

अभी मानव सबको पहचानते हुए मानव को पहचानने की विधा में सर्वाधिक पिछड़ा हुआ है। इसकी भरपायी ज्ञान विज्ञान विवेक पूर्ण कार्य व्यवहार से कर सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि तीनों अवस्था की इकाईयों में अपने त्व सहित व्यवस्था एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित हो चुकी है। इसी के फलन में मानव मनाकार को साकार करने में सफल हुआ। लोहा अपने व्यवस्था में अचूक रहना, मिट्टी, पत्थर, मणि, धातु सब अपने-अपने आचरण में अचूक रहते ही हैं। इसी आधार पर मानव इनके साथ अपने सामाजिक महत्वाकांक्षाओं संबंधी प्रौद्योगिकी व्यवस्था को अथवा उत्पादन को समृद्ध बना पाया। यदि ये सब मानव जैसा परस्पर झगड़ालू, मतभेद, विरोध, विद्रोह करने लगते तब क्या होता ? यदि इसी प्रकार अन्य प्रकृति भी अपने आचरण में स्थिरता निश्चयता नहीं रखती तो क्या होता ? किसी भी मानव का मनाकार को साकार करने की संभावना नहीं रहती। क्रमागत विधि से तीनों अवस्थायें अपनी-अपनी यथास्थिति के अनुसार निश्चित आचरण के रूप में प्रकट रहना मानव के लिए सार्थक रूप बनी। परन्तु, मानव अन्य प्रकृति के साथ जीकर सार्थक होने के लिए, मनःस्वस्थता को प्रमाणित कर ही नहीं पाया। प्रमाणित किये बिना मानव का मानवेत्तर सभी प्रकृति के साथ पूरक होना संभव है ही नहीं। इतना ही नहीं, **मानव मानव के साथ पूरक हुए बिना अन्य प्रकृति के साथ पूरक होना बनता ही नहीं।**

सहअस्तित्ववादी नजरिये से विज्ञान की क्रिया, प्रक्रिया, सार्थकता सुनिश्चित होती है क्योंकि सहअस्तित्ववादी विधि से विज्ञान का प्रयोजन मानव लक्ष्य सार्थक होने के लिए दिशा निर्धारित करना है। मानव का लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व होने के कारण यह सर्व मानव में सार्थक होने की दिशा और शिक्षण के तौर तरीकों को निर्धारित करना ही विज्ञान और विवेक का प्रयोजन है।

ऐसे लक्ष्य निर्धारित करने की विधि से विज्ञान का महत्व है। इस विधि से विवेक

और विज्ञान का नजरिया और कार्य दोनों स्पष्ट हुआ। यह इस आशय को भी स्पष्ट करता है कि मानव का आचरण निश्चित होने के पक्ष में -

- विज्ञान, विवेक के अर्थ में सार्थक हो जाये।
- विवेक और विज्ञान, ज्ञान के अर्थ में सार्थक हो जाये।
- ज्ञान, विज्ञान और विवेक, सहअस्तित्व के अर्थ में सार्थक हो जाये।
- ज्ञान सहअस्तित्व के अर्थ में हो जाये।

यही अनुभवमूलक सहअस्तित्ववादी ज्ञान, विज्ञान, विवेक का अर्थ है।

मात्रा मूल स्वरूप में, एक व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ, इकाई के रूप में पहचाना जाता है। ऐसा यह एक से अधिक अंशों के गठन के रूप में आरम्भ होता है, जिसका आकार (परिणाम) निश्चित होता है। आकार (परिणाम) के निश्चितता के पक्ष में बहुत सारा उदाहरण प्रस्तुत हो चुका है। अब यहाँ रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के प्रति स्पष्ट होना आवश्यक है। हर रूप आकार, आयतन, घन के रूप में स्पष्ट है। आकार का मतलब जैसा बना हुआ रहता है, साथ में जितने जगह में फैला रहता है, कार्य करता है अर्थात् स्थिति रहता है। जैसा एक परम्परा के बारे में सोचा जाये, कितने जगह में क्रियाशील रहता है। वैसे ही आगे अनेक अणु से बनी रचनाएं चाहे बहुत बड़ी हों, छोटी हों, इसका रूप जिस आकार में बने रहते हैं, जितना जगह घेरे रहते हैं, इसके आधार पर रूप का पहचान होता है। इसमें से आकार क्या है, आकार कैसे है का पक्ष बनावट से है, आयतन का अर्थ घिराव (फैलाव) से है। घेरने का तात्पर्य व्यापक वस्तु में सभी ओर से सीमित रहने से है, दूसरी विधि से लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई से भी है। इन विधियों से हम आकार को पहचान पाते हैं, ऐसे प्रत्येक आकार अथवा इकाई सभी ओर प्रतिबिम्बित रहता है। इकाई के सभी ओर स्थित इकाईयों पर आशित इकाई का प्रतिबिम्ब रहता ही है। इस प्रकार से एक दूसरे के पहचान की विधि बनी रहती है। पहचान विधि को बनाने की जरूरत नहीं है। इस विधि से हर वस्तु, हर वस्तु पर प्रतिबिम्बित रहता ही है। हर वस्तु प्रकाशमान है।

उक्त विधि से सोचने पर यह प्रश्न निर्गमित हो सकता है, क्या एक दूसरे को

पहचानने के लिए प्रकाश की जरूरत नहीं है ? जैसा सूर्य प्रकाश धरती पर उपलब्ध है। इसका उत्तर यही है, हम अभी मानव जो कुछ भी प्रकाश पहचानते हैं, आँखों से प्रकाश को पहचानने के आधार पर ही है। जबकि, सभी वस्तु प्रकाशमान है ही। इसका कारण यही है, हर परमाणु में श्रम, गति, परिणाम रूपी क्रिया बना ही रहता है। गति के फलन में शब्द, ऊष्मा, विद्युत, तरंग प्रकट हुआ रहता है। क्रिया के मूल में ऊर्जा सम्पन्नता और चुम्बकीय बल सम्पन्नता स्वयं सिद्ध रहता ही है। इन चारों प्रकार की बल सम्पन्न इकाई के वैभव को विद्यमानता और प्रकाशमानता के रूप में प्रकाशित किये रहते हैं अर्थात् प्रकाशित रहते हैं। इससे हमें यह समझ में आता है कि हर वस्तु प्रकाशमान है। प्रकाशमानता का साक्ष्य प्रतिबिंबन के रूप में इकाई के सभी ओर होना सुस्पष्ट हो चुका है। एक दूसरे को पहचानने के लिए प्रतिबिंबन ही आधार है, यह तथ्य समझ आ चुका है। इसके लिए किसी भी एक कमरे में किसी वस्तु को रखें, स्वभाविक रूप में सभी ओर से हम बैठें, वह वस्तु हम सबकी नजरों में आता ही है। दूसरी विधि से, हमारी आंखें, चक्षु रचना के अनुसार अधिक प्रकाश के बिना अंधेरे कमरे में कोई चीज दिखता नहीं। कमरे में रखी वस्तु का प्रतिबिंबन में कोई गति होती नहीं। यह इस विधि में समझ में आता है, रात्रि बेला से संचालित होने वाले उल्लू और सदृश्य आँख वाले जीव जानवर उनके आवश्यकीय वस्तु को पहचानते ही है। जैसे उल्लू, चमगादड़ फलों को पहचानते ही हैं, हिरण घास को पहचानता है। जबकि, मानव नहीं पहचानता है। मानव के न पहचानने मात्र से वस्तु अपने को प्रस्तुत करने में त्रुटि करेगा ऐसा भी नहीं हुआ, पहचानने वाले और कोई नहीं है, ऐसा भी नहीं हुआ। हाथी, चींटी, उल्लू को भी दिखता है, इस बात पर विचार किया जा सकता है। शोध विधि से निष्कर्ष निकलता है कि उनकी-उनकी आवश्यकतानुसार आँखे बनी रहती हैं। उसी प्रकार पाँचों संवेदनाओं का आधार बना रहता है क्योंकि आँख से कुछ, नाक से कुछ, जीभ से कुछ, त्वचा से कुछ, कान से कुछ पहचानने की व्यवस्था जीवन्त आदमी में बनी हुई है। इसी प्रकार की व्यवस्था सभी जीव जानवरों में जरूर होगी, ऐसा सोचा जा सकता है। जैसा मेंढक का चमड़ी बनी रहती है, अनेक पक्षियों के पंख विभिन्न तरीके से बने रहते हैं, गाय का चमड़े और तरह के बने रहते हैं, इन सब में स्पर्शीयता उन-उनके आवश्यकता अनुसार भिन्न-भिन्न बने रहते हैं। इस प्रकार मानव शरीर की स्पर्शीयता भिन्न रहना स्वभाविक रहा। इस बात को हम शरीर ज्ञान से स्वीकार सकते हैं कि मानव शरीर रचना, पाँचों प्रकार की संवेदनाओं को खूबी से व्यक्त कर

सकता है, प्रवृत्तियों को संप्रेषित कर सकता है। यह सौभाग्य सभी प्रकार के मानव शरीर में समानता के अर्थ को स्पष्ट करता है। प्रकारान्तर से, संवेदना सभी जीवों में होना पाया जाता है। इस प्रकार जीवावस्था, ज्ञानावस्था के मात्रा के साथ होने वाली क्रियाकलाप को स्पष्ट किये। हर रचना एक मात्रा है, इन मात्राओं में रूप विविधता आकार, आयतन के रूप में; गुण विविधता गति, कार्य और प्रवृत्ति के रूप में; स्वभाव विविधता चार अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होने के रूप में, धर्म विविधता चारों अवस्थाओं में अलग-अलग होने के रूप में अध्ययनगम्य है। इस मुद्दे पर पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है। पदार्थावस्था अस्तित्व धर्म सम्पन्न है, जिसका नाश संभव नहीं है। प्राणावस्था, अस्तित्व सहित पुष्टि धर्म संपन्न हैं, इसका प्रमाण एक बीज अनेक में परिवर्तित होने की परंपरा है। बीज वृक्ष न्याय से ही संपूर्ण प्राणावस्था है। जीवावस्था, अस्तित्व पुष्टि सहित आशा धर्मी है। हर जीव जीना चाहता है, जीने का मतलब संवेदनाओं को व्यक्त करना है। इससे अधिक कुछ नहीं है। ज्ञानावस्था में मानव अस्तित्व पुष्टि सहित सुख धर्मी है, यह भी इसके साथ स्पष्ट किया गया है। समाधान ही सुख का प्रमाण स्वरूप है। सर्वतोमुखी समाधान, मानव अपने समझदारी को प्रमाणित करने के क्रम में व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति, संप्रेषित हर मानव में, से, के लिए अध्ययन, बोध, अनुभव, प्रमाण के लिए पहुँच पाता है, स्वीकार हो पाता है। इससे यह भी पता लगता है मानव सहअस्तित्व में अनुभवमूलक विधि से ही सर्वतोमुखी समाधान को व्यक्त करता है, जिससे मानव कुल का उपकार होना स्वभाविक है। मानव कुल के उपकार का तात्पर्य मानव जागृति परंपरा में, मानव सार्वभौम व्यवस्था में, मानव अखण्ड समाज में, मानव कम से कम परिवार व्यवस्था में होने से है। परिवार व्यवस्था में भी मानव, मानव के लिए अथवा परिवार के लिए प्रेरकता है ही, इस विधि से समाधान उपकार से जुड़ा ही रहता है। अथवा उपकार विधि से समाधान जुड़ा रहता है। इस प्रकार मानव में समझदारी ही देखने का तात्पर्य है, समझना ही देखना है।

मानव मात्रा को, मानव को एक मात्रा माना जाय, उस स्थिति में इसका प्रयोजन क्या है, अपने आप में समझ में आता है। इसी प्रकार जीवों को भी मात्रा के आधार पर, वनस्पति और धरती के लिए पूरक होने के अर्थ में मानव के लिए भी पूरक होने के रूप में अध्ययन होता है। जीवों के मलमूत्र से, श्वसन से, धरती और प्राणावस्था के लिए पूरक होना पाया जाता है। क्योंकि इसमें स्वभाविक रूप से धरती में उर्वरकता बढ़ती है। जीव संसार

वनस्पति संसार के अनेक रोगों को दूर करता हुआ समझ में आता है। इसका प्रमाण जिन जंगलों में जीव-जानवर न हो, उस जंगल में पेड़-वनस्पतियों में अनेक रोगों का होना पाया जाता है। जिनमें अनेक जीव-जानवर रहते हैं, उन जंगलों में रोग बाधा न्यूनतम होना पाया जाता है। इसे व्यक्ति परीक्षण कर सकता है। इसी क्रम में फसल संसार में भी खरपतवार, कीड़ा, पक्षियों का आवागमन विशेषकर मधु मक्खियों का संयोग, सभी फसलों में उपकारी होना पाया जाता है। इन सबका जहाँ अभाव रहता है, फसल कम हो जाती है, वहाँ फसलों को नष्ट करने वाले कीड़े बढ़ जाते हैं, हर वर्ष नये-नये रोग तैयार हो जाते हैं। इसीलिए धरती जैसे भी सजी है, उसके ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। इसकी सजावट अपने आप में पूरकता, उपयोगिता विधि से ही हुआ है, इसके प्रमाण में पदार्थावस्था के बाद प्राणावस्था प्रकट हुआ है। प्राणावस्था में जितने भी प्रजातियाँ समाहित हैं, वे सब पदार्थावस्था के लिए पूरक, उपयोगी होना पाया जाता है। पदार्थावस्था अपने सभी प्रकार के परमाणु प्रजातियों के इस धरती पर संपन्न होने के उपरान्त ही प्राणावस्था का प्रगटन होना स्वाभाविक रहा है। इससे पता लगता है, प्राणावस्था के लिए पदार्थावस्था पूरक है और पदार्थावस्था के लिए प्राणावस्था पूरक है। प्राणावस्था उपयोगी इस विधि से है कि प्राणावस्था जब विरचित होता है, तब धरती में उर्वरकता बढ़ना शुरु होती है। जैसे-जैसे उर्वरकता धरती में बढ़ती है, वैसे-वैसे प्राणावस्था का उन्नयन इस धरती में होता जाता है। उन्नयन होने का तात्पर्य उन्नत होने से है। इसका स्वरूप उर्वरकता बढ़ते बढ़ते, झाड़ पौधों सभी में श्रेष्ठता भी बढ़ती गयी जिसको हम गुणात्मक परिवर्तन या विकास भी कह सकते हैं। जीव संसार के लिए प्राणावस्था उपयोगी होती है और जीवावस्था प्राणावस्था के लिए पूरक होना देखने को मिलता है। जीवावस्था के लिए प्राणावस्था की उपयोगिता इस प्रकार से देखने को मिलता है कि प्राणावस्था में ही पुरुष कोषा और स्त्री कोषा की संरचना प्रारंभ हो चुकी है। जीवावस्था में स्त्री पुरुष शरीर का रचना परस्पर भिन्न रूप में स्पष्ट हो गयी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राणावस्था में कोष रचनायें जितना उन्नत रहा, जीवावस्था के लिए पर्याप्त नहीं हुआ, और विकसित होने की आवश्यकता रही, चाहे विकास क्रम ही क्यों न हो। इससे यह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, जीवों के शरीर रचना क्रम में स्त्री पुरुष शरीर रचना का सुस्पष्ट रूप प्रकट हो गयी। जीवों के लिए आहार, प्राणावस्था से संपन्न होता आया है, इस ढंग से पूरकता और उपयोगिता सुस्पष्ट है। इस प्रकार पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था परस्पर पूरक व उपयोगी सिद्ध हुआ।

सर्वप्रथम प्राणावस्था का उपयोग, किसी न किसी जीव परंपरा के शरीर रचना में, प्राणकोषाओं के तृप्ति की उपरान्त ही अग्रिम रचना विधि प्राणकोषाओं में उत्सव के रूप में उभरना स्वभाविक रहा। इसी आधार पर किसी-किसी जीव शरीर से सप्त धातुओं का समावेश और सर्वाधिक समृद्ध मेधस रचना संपन्न हुई। ऐसे शरीर में ही प्राणकोषाओं के संयोजन से होने वाली प्रजनन प्रणाली मानव शरीर की रचना होना प्राकृतिक प्रणाली रही। ऐसी शरीर रचना विभिन्न परिवेशों में अर्थात् भौगोलिक परिवेश में, विभिन्न जीव शरीरों से निष्पन्न होने की संभावना भी स्पष्ट है। इसका प्रमाण इस धरती पर अनेक नस्ल के मानव शरीर रचना का होना है। इससे भी अपने नस्ल का ध्रुव बिन्दु, मूलभूत जीव शरीर से मानव शरीर का निष्पत्ति होना स्वीकारा जा सकता है। हर नस्ल के साथ किसी न किसी रंग का होना स्वभाविक है ही। इस प्रकार से हम मानव वंश के शुरुआत के संबंध में अनुमान कर सकते हैं। हजारों, करोड़ों पीढ़ियों बीती हुई इस परम्परा में मूल संबंधों को जीवों के साथ प्राकलित कर सांत्वना पाना, इसलिए कि विकास क्रम की कड़ी के रूप में पहचान पाना, एक आवश्यकता तो रहा। इस क्रम में हर भौगोलिक परिस्थितियों में मानव विभिन्न प्रकार की नस्ल रंग के साथ अवतरित होने के उपरान्त, अपने परंपरा को सुरक्षित करने के प्रवर्तन में सफलता प्राप्त किये हैं। क्योंकि, इस धरती पर मानव की संख्या काफी बढ़ चुकी है, अन्य जीव परंपरा भी अपने रंग रूप में सुरक्षित होना दृष्टव्य है। मानव सर्वाधिक विकसित शरीर रचना संपन्न होने के आधार पर जीवन के लिए सर्वाधिक उपयोगी होना अथवा पूर्णतया उपयोगी होना स्पष्ट है। प्रमाणित होने के क्रम में ही मानव संज्ञानशीलता का अथवा संज्ञानीयता को प्रखर रूप देने का इच्छुक है ही। इसी विधि से मानव का अध्ययन ज्ञान, विवेक, विज्ञान के रूप में प्रमाणित होना एक अवश्यम्भावी घटना है। इस सहअस्तित्ववादी नजरिये से ज्ञान सम्पन्नता, विवेक और विज्ञान सम्पन्नता, मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में प्रमाणित होना आवश्यक व अवश्यंभावी रहा। इसी क्रम में सहअस्तित्ववादी नजरिये से सभी मुद्दे जो मानव पहले से ही जानना चाहता है, जो अज्ञात रहा है उन सबकी व्याख्या होना संभव हो गया।

उक्त प्रकार से अस्तित्व में चारों अवस्थाओं में पाये जाने वाले सम्पूर्ण मात्रायें, एक-एक मात्रा अपने त्व सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी होने के रूप में स्पष्ट हुआ। मानव के लिए मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में ही सार्थक होने के लिए यह अध्ययन प्रस्तुत हुआ।

मात्रा विधा में रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के अध्ययन के सम्बन्ध में रूप चारों अवस्थाओं के लिए स्पष्ट हो चुकी है । अब गुण और स्वभाव के संबंध में स्पष्ट होना आवश्यक है। स्वभाव चारों अवस्थाओं में भिन्न देखा जा रहा है। पदार्थावस्था में संगठन-विघटन या किसी से संगठन किसी से विघटन क्रिया के रूप में स्वभाव को पदार्थावस्था में देखा जाता है । प्राणावस्था में स्वभाव सारकता मारकता के रूप में देखने को मिलता है । सारकता, स्वयं में विपुल होने के अर्थ में, दूसरा जीव संसार के लिए उपयोगी होने के अर्थ में । मारकता का मतलब अपने बीज व्यवस्था को विपुल बनाने में अड़चन पैदा करने की क्रिया और जीव संसार के लिए रोग, मृत्युकारक होने की स्थिति से है। जीव संसार में स्वभाव को क्रूर-अक्रूर के रूप में पहचाना गया है । अक्रूर का अर्थ है दूसरे किसी जीवों का हत्या न करना, मांस भक्षण न करना, वनस्पति आहारों पर जीते रहना। इस प्रकार से क्रूर-अक्रूर दोनों स्पष्ट होते हैं। दूसरे भाषा में मांसाहारी-शाकाहारी के रूप में जाना जाता है। तीसरी भाषा में हिंसक-अहिंसक भी कह सकते हैं। ज्ञानावस्था का स्वभाव धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करूणा होना पाया जाता है । ये ही मानव स्वभाव के रूप में स्पष्ट होता है । मानव विरोधी स्वभाव हीनता, दीनता, क्रूरता सहित परधन, परनारी/परपुरुष, परपीड़ा के रूप में गण्य है। जो इन प्रवृत्ति में रहते हैं, वे ही पशु मानव, राक्षस मानव में गण्य होते हैं। ये दोनों मानव विरोधी होना पाया जाता है। मानव विरोधी स्वभाव वाले शनैः-शनैः मानवीय स्वभाव में परिवर्तित होने की संभावना बनी रहती है। इसी आधार पर सार्थक शिक्षा का प्रस्ताव है, दूसरी भाषा में सहअस्तित्व वादी शिक्षा का प्रस्ताव है।

धीरता का तात्पर्य मानव न्याय के प्रति सुस्पष्ट और प्रमाणित रहने से है। सुस्पष्ट होने के लिए अध्ययन और परंपरा ही एकमात्र आधार है। परंपरा, अध्ययन कार्य का धारक वाहक है, अध्ययन वर्तमान में होता ही रहता है । वीरता का तात्पर्य, स्वयं न्याय के प्रति निष्ठान्वित, व्यवहारान्वित, प्रमाणित रहते हुए लोगों को न्याय सुलभता के लिए अपने तन, मन, धन को अर्पित समर्पित करने से ही है। यह भी शिक्षा विधि से ही और लोक शिक्षा विधि से ही सार्थक होना पाया जाता है। उदारता का तात्पर्य है अपने में से प्राप्त तन, मन, धन रूपी अर्थ को उपयोगिता विधि से, सदुपयोगिता विधि से, प्रयोजनीयता विधि से उपयोग करना। उपयोगिता विधि का तात्पर्य शरीर पोषण, संरक्षण, और समाज गति में प्रयोग करना है।

सदुपयोगिता का तात्पर्य अखण्ड समाज में भागीदारी करते हुए वस्तुओं का अर्पण-समर्पण करना है। प्रयोजनीयता का तात्पर्य सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी करना है, वह भी स्वयं स्फूर्त स्वायत्त विधि से।

दया का तात्पर्य पात्रता के अनुरूप वस्तुओं को उपलब्ध कराने की क्रिया से है। कृपा का तात्पर्य उपलब्ध वस्तु के अनुसार पात्रता को उपलब्ध कराना है। यह वस्तु के अनुरूप पात्रता के अभाव की स्थिति में हो जाना पाया जाता है। करूणा का तात्पर्य वस्तु भी न हो पात्रता भी न हो इन दोनों को स्थापित करने की क्रिया है। मानव दया, कृपा, करूणा पूर्वक मानव, देव मानव और दिव्य मानव के रूप में वैभवित होना पाया जाता है। ऐसे वैभव देश, धरती, मानव के लिए अत्यधिक उपयोगी होना पाया जाता है।

मात्रा सिद्धान्त, सार रूप में, इस प्रकार समझ में आता है एक-एक के रूप में विद्यमान वस्तु, इकाई मात्रा हैं। इकाई में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य रूप में वर्तमान है। प्रत्येक परमाणु ही मूल मात्रा है। मूल मात्रा परमाणु होना इसलिए स्पष्ट हुआ है कि इकाई जो परिभाषित होता है, यह स्वयं में व्यवस्था हो और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता हो। इकाई हो, व्यवस्था में भागीदारी करता न हो, ऐसी स्थिति में ऐसी इकाईयों में भी व्यवस्था में भागीदारी के लिए प्रवृत्ति होना पाया जाता है, जैसा परमाणु अंश और भ्रमित मानव। अंश स्वयं में व्यवस्था को प्रमाणित नहीं कर पाता अर्थात् निश्चित आवश्यकता को व्यक्त नहीं कर पाता, इसलिए हर परमाणु अंश, परमाणु में भागीदारी करने, फलतः व्यवस्था को प्रमाणित करने के अर्थ में प्रवर्तनशील है। निश्चित आचरण ही व्यवस्था के रूप में ख्यात होता है। इससे पता चलता है कि परमाणु अंश एक दूसरे को पहचानते हैं और निर्वाह करते हैं। मानव, मानव को पहचानना, अभी आवश्यकता है। मानव को पहचानने का एक ही सूत्र है - मानवत्व, मानव लक्ष्य के अर्थ में ही होना आवश्यक है। मानव लक्ष्य - समाधान, समृद्धि, अभय सहअस्तित्व है। मानवीय लक्ष्य को प्रमाणित करने के क्रम में ही, मानवीयता पूर्ण आचरण को स्पष्ट कर पाते हैं। इसका प्रमाण मूल्य, चरित्र, नैतिकता के रूप में है। इसे सार्वभौम रूप से अथवा सर्वमानव में सफल करना ही अथवा होना ही जागृत मानव परम्परा का वैभव है। इसी आधार पर हर मानव स्वयं में मानवत्व सहित व्यवस्था हो पाता है, समग्र व्यवस्था में भागीदारी कर पाता है, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी कर

पाता है। अतः अस्तित्व में हर इकाई मात्रा के रूप में ख्यात है, मानव भी मानवत्व को पहचानकर निश्चित मानवीय आचरण पूर्वक मानवीय लक्ष्य को प्रमाणित करते हुए मात्रा के रूप में गण्य होता है। इस प्रकार हर परमाणु मूल मात्रा के रूप में हर रचना मात्र के रूप में गण्य है।

10. गुण, स्वभाव, धर्म

गुण अपने स्वरूप में सम, विषम, मध्यस्थ क्रिया और प्रवृत्तियाँ है। इनके फल परिणाम के आधार पर यह आंकलित होता है। सृजनकारी संयोजन क्रियाकलाप सम प्रवृत्ति के नाम से इंगित कराया गया है। विभव कार्य के विपरीत विघटन, विध्वंसकारी क्रियाकलाप और प्रवृत्ति को विषम कहा गया। जिस योग-संयोग विधि से जितनी भी रचनायें बनती हैं, उसको बनाये रखने में किया गया प्रवृत्ति और कार्यों को मध्यस्थ नाम दिया गया है। हर क्रिया स्थिति व गति स्वरूप को प्रकट करता ही है। हर क्रिया के मूल में प्रवृत्तियाँ होना स्वभाविक है। हर प्रवर्तन, हर इकाई में परस्पर पहचानने के आधार पर गतिशील है और प्रकट है। इसको हर अवस्था में, हर पद में, हर यथास्थिति में पहचाना जा सकता है। हर इकाई में पहचानने की प्रवृत्ति है। पहचानने और निर्वाह करने के आधार पर प्रवर्तन, विकासक्रम, विकास, जागृति क्रम, जानने के आधार पर जागृति घटित होना पाया जाता है। इसी आधार पर हर इकाई का निश्चित आवश्यकता त्व के रूप में स्पष्ट होता है। प्रवर्तन के आधार पर ही आवश्यकता स्पष्ट होना स्वभाविक है। इस प्रकार आवश्यक प्रवर्तन, आवश्यक पहचानना, इस क्रम में परस्पर पहचान होता है। त्व सहित व्यवस्था क्रम में ही पहचान है। एक दूसरे के इस प्रकार पहचान के क्रम में रहस्य से मुक्त होना पाया जाता है। इन इकाईयों के संबंध में अज्ञात नाम की चीज नहीं रह जाती है। अध्ययन काल में इस मुद्दे पर शंका कर सकते हैं कि प्रत्येक एक-एक को कहाँ तक परीक्षण किया जाय। जैसे समुद्री जल को कब तक एक-एक बूंद को परीक्षण करते रहें? कब तक एक-एक परमाणु को परीक्षण करते रहें? इसी प्रकार कब तक प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था की एक-एक इकाई का परीक्षण करते रहें? क्या इस ढंग से कोई पार भी पायेगा। इसके उत्तर में, इन तथ्यों को इस प्रकार समझा चुके हैं कि हर यथास्थिति, अवस्था और पद सोपानवत् एक से एक जुड़ी हुई है। जैसे पदार्थावस्था विकास क्रम में अनेक यथास्थितियों से होते हुए रूप, गुण, स्वभाव, धर्म को व्याख्यायित करना, छोटे से छोटे, बड़े से बड़े भौतिक वस्तु के लिए व्यवस्था सम्पन्न हो गया है। यथा आकार, आयतन, घन से रूप; सम, विषम, मध्यस्थ के रूप में गुण; संगठन-विघटन के रूप में स्वभाव और अस्तित्व रूप में धर्म को समझा चुके हैं। इससे पता चलता है, सिंधु के एक

बिन्दु को परीक्षण करने मात्र से संपूर्ण सिंधु के पानी को हम समझ चुके होते हैं। अध्ययन विधि इसी प्रकार सार्थक हो पाता है।

उक्त प्रकार से प्राणावस्था का भी अध्ययन यथा आकार, आयतन, घन से रूप; सम विषम मध्यस्थ के रूप में गुण; सारक मारक के रूप में स्वभाव और अस्तित्व सहित पुष्टि धर्म होना समझा चुके हैं। इसके आगे जीवावस्था में जीवन और शरीर संयुक्त रूप होते हुए कुछ जीवों में यह प्रमाणित हुआ है। इसके स्पष्टीकरण में सप्त धातुओं से रचित शरीर, समृद्ध मेधस तंत्र और मानव के निर्देश संकेतों को ग्रहण करने की क्षमता संपन्न जीवों में जीवन का होना प्रमाणित होता है। ऐसे जीवों में जीवन में भी आकार, आयतन, घन होता है। शरीर में भी होता है। जीवन अति सूक्ष्मतम क्यों न हो। जीवन में भी गुण सम, विषम, मध्यस्थ प्रभावित रहता ही है। मानव में जीवन प्रधान रहता है। इसीलिए, शरीर का सम, विषम, मध्यस्थ गुण गौण हो जाता है। जीवों में स्वभाव, धर्म संयुक्त रूप में होता है। क्रूरता, अक्रूरता शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में स्पष्ट हो पाता है। जीने की आशा धर्म भी संयुक्त रूप में स्पष्ट होता है। सम्पूर्ण जीव वंशानुषंगीय विधि से व्याख्यायित है। इसी प्रकार आगे मानव का भी सम, विषम मध्यस्थ गुणों का स्पष्टीकरण हो पाता है। मानव में भी गुण सर्वाधिक मध्यस्थ के पक्ष में है जो स्वयं के वैभव के रूप में व्यक्त होता है। मानव जब तक भ्रमित रहता है, तब तक स्व का होना सर्वोपरि, अन्य को गौण मानता है। इसी प्रवृत्ति का प्रकटन द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध के रूप में सुदूर विगत से ही स्पष्ट होता आया है। इसमें भी स्व वैभव की ही स्वीकृति रहती है। स्व वैभव को शुभ माना रहता है। जागृति पूर्वक सर्व शुभ के साथ ही स्व वैभव के होने के तथ्य को समझ पाता है, भ्रमवश इससे अनभिज्ञ रहता है। जब इसमें निष्ठा हो जाती है, जागृत हो जाता है, तब विषम गुणों से मुक्त हो जाता है। जब तक विषम गुणों से मुक्त नहीं होता, तब तक कुंठा, निराशा, प्रताड़ना प्रभावशील रहता है। इसी को मानव परंपरा में दुख कहते हैं। जागृत मानव का गुण सदा-सदा मध्यस्थ होना पाया जाता है। इसका सार्वभौम स्वरूप जागृत परंपरा को बनाये रखना, सार्वभौम व्यवस्था को बनाये रखना, अध्ययनपूर्वक अखण्ड समाज सूत्र को प्रमाणित किये रखना है। यह परिवार में न्याय को प्रमाणित किये रहने के रूप में प्रकट होता है। इन सभी तथ्यों को अध्ययन करने में संपूर्ण मानव के लिए शुभ, समाधान, सत्य का सुस्पष्ट नजरिया प्रमाणित होता है। इसी की

आवश्यकता है। इसी परंपरा विधि से संपूर्ण अध्ययन समझ में आता है। मानवीय गुणों से ही मानव की मौलिकता परस्पर समझ में आती ही है। इसी प्रकार हर अवस्था, हर पद में विद्यमान इकाईयों का उन उनके गुण, स्वभाव, धर्म रूप के साथ अभिव्यक्त रूप में प्रमाणित होती रहती है। इनमें से मानव के अतिरिक्त सभी अवस्था और पदों में हर इकाई अपने में त्व सहित व्यवस्था के रूप में है ही। मानव भी इकाई होने के कारण संज्ञानीयता पूर्वक संवेदनशीलता में नियंत्रण प्रमाणित होने के पर्यन्त जागृत होने की आवश्यकता है। मानव का तात्पर्य ही है - सहअस्तित्व में संपूर्ण पद, अवस्था में स्थित जड़-चैतन्य प्रकृति को जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना। इस विधि से मानव में अखण्डता, सार्वभौमता, जीवों में सामुदायिकता, वनस्पति में जातियता, प्रजातियता और पदार्थावस्था में विकासक्रम गत अंशों के संख्या भेद से अनेक यथास्थितियाँ पूर्वक प्रमाणित होना पाया जाता है। अस्तित्व में विविधता होते हुए भी राशि विधि उन अवस्था और पद भेद से मानव कुल पहचानने की व्यवस्था, सहअस्तित्व सूत्र व्याख्या से अध्ययनगम्य है।

11. बल-शक्ति (स्थिति-गति)

हम मानव विगत से बल और शक्ति के बारे में बहुत सारे अनुमान लगाते रहे हैं। आधुनिक विज्ञान युग आने के बाद शक्ति के बारे में और निष्कर्ष निकालने का प्रयोग किया गया। अभी तक पूर्ण निष्कर्ष विज्ञान विधा से निकला ही नहीं, मानवीयता के लिए कुछ निकला नहीं, यह विचारणीय बिन्दु है। इस संदर्भ में विज्ञान विधा से दबाव को बल के रूप में और गति, तरंग और प्रवाह को शक्ति के रूप में पहचानने की कोशिश हुई है। इसमें बहुत सारे उदाहरण प्रस्तुत किये। विद्युत तरंग और चुम्बकीय बल के रूप में, उसी प्रकार शब्द तरंग और दबाव के रूप में, प्रवाह में होने वाले तरंग और दबाव के रूप में, इन विविध प्रकारों से अध्ययन कराने की कोशिश की गई। इन सब में यह पाया गया कि इन सबमें मध्यस्थीयकरण होने के तथ्य को नकारा गया है। ये सब अध्ययन आवेशित गति पर ही आधारित हैं। स्वभाव गति में होने पर बल और शक्ति कहाँ चले जाते हैं यह प्रश्न तो आता ही है।

इस मुद्दे पर मध्यस्थ दर्शन के नजरिये से यह पता चलता है कि स्थिति में बल, गति में शक्ति प्रकट होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ, दूसरे पर प्रभाव प्रमाणित करने के क्रम में यांत्रिक प्रक्रिया रूपी शक्ति का परिचय, पहचान होता है। स्थितियाँ होने के आधार पर पहचानने में आता है। इस तथ्य को अथवा सिद्धान्त को परीक्षण करने की बहु विधायें मानव के सम्मुख समीचीन है। समीचीनता का तात्पर्य पास में होने से, उपलब्ध होने से है। जैसे एक पत्थर, उसको हम उठाने जाते हैं, उठाते हैं, तब पत्थर एवं हमारे संयोग का जैसा भी बोध होता है जैसा भी समझ में आता है, उसको भार कहते हैं। ये भार अपने आप से धरती के साथ सहअस्तित्व सूत्र प्रमाणित करने के अर्थ में पाया जाता है। यही चीज, इस प्रकार के भार का अनुभव हर मानव में होने की स्थिति स्पष्ट है। जैसा एक खाली घड़ा, उसमें पानी भर दिया अथवा मिट्टी भर दिया अथवा आलू या अनाज भर दिया तब उसको उठावें। उठाने पर जैसा लगता है, उसको भार कहा। हर मानव अपने में मनाकार को साकार करने वाला होने के आधार पर और कल्पनाशील, कर्मस्वतंत्र होने के आधार पर भार को कैसे नापा या तौला जाय, इसको सोचा और इसका उत्तर पा गया। तौलने की विधि तय कर लिया। मापने की विधि तय कर लिया। उससे बड़ा, उससे बड़ा ट्रक और रेल आदि के वजन को भी तौलने,

नापने योग्य यंत्र बना लिया। हर दिन इसको हर व्यक्ति देखता ही है। पूरा भार धरती के साथ सहअस्तित्व को प्रमाणित करने के क्रम में होने वाला विन्यास है, सिद्धान्त है। इस ढंग से भार सहअस्तित्व से अनुप्राणित होना पाया जाता है। हर इकाई स्थिति में बल सम्पन्न, गति में शक्ति को प्रमाणित प्रकाशित करते हैं।

इस क्रम में यह समझ में आता है कि हर वस्तु निश्चित अच्छी दूरी में अपने अपने व्यवस्था को बनाये रखते हैं। जैसे एक परमाणु में एक से अधिक परमाणु अंश निश्चित दूरी में रहते हुए त्व सहित व्यवस्था को आचरण के रूप में प्रकट करते हैं, जिसका दृष्टा मानव है। ऐसी निश्चित अच्छी दूरी के बीच में अगर दूरी बढ़ती है तब परमाणु में मध्यांश के रूप में कार्य करता हुआ मध्यस्थ क्रिया, अपना बल प्रयोग करता है और अंशों पास बुला लेता है। अगर परमाणु अंश मध्य में क्रियारत मध्यांश के पास आने लगता है, तभी भी मध्यांश अपना बल लगा कर अंश को अच्छी दूरी में निश्चित कर लेता है। यह परमाणु में होने वाली नियंत्रण क्रिया है। इन्हीं क्रियावश परस्पर दूरी पर नियंत्रण बना रहता है। परमाणु, अणु के रूप में जब होते हैं, मध्यांशों के आधार पर ही परस्पर आकर्षण बल, चुम्बकीय बल संपन्नता के आधार पर प्रवर्तित होता है। फलतः एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ जुड़कर अणु बंधन सहित अणु कहलाते हैं। ऐसे अणुओं का भार संपन्न रहना स्वभाविक है। इसी भार के कारण, एक अणु के दूसरे अणु के साथ निश्चित अच्छी दूरी में रहते हुए जुड़ने की प्रवृत्ति बनी रहती है। ऐसी प्रवृत्तियों से परमाणु, अणु, अणुओं से रचित बड़े-बड़े पदार्थ, पिण्ड मानव के सम्मुख प्रस्तुत हैं, जैसे यह धरती। इस धरती के साथ धरती से जुड़ी हुई सभी वस्तु, धरती के वातावरण तक, ठोस-ठोस के साथ, तरल-तरल के साथ, विरल-विरल के साथ सहअस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। इसके लिए जो विन्यास धरती और धरती के अंगभूत वस्तुयें करते हैं, उन्हें ऊपर से गिरना, दौड़ना, उड़ना आदि नाम देते हैं। ऊपर से वही सब चीजें नीचे गिरती है, जो ठोस और तरल के रूप में रहती है। तरल-तरल वस्तु के साथ सहअस्तित्व को प्रमाणित करने की आतुरता कातुरता में जो विन्यास करता है, उसे वर्षा अथवा प्रवाह कहते हैं। इसी प्रकार से जो ठोस वस्तु ऊपर से गिरती है, वह धरती के साथ होने वाला विन्यास है, जो उस वस्तु का धरती के साथ सहअस्तित्व को प्रमाणित करने के प्रभाव में होता है। इसी विन्यास को गुरुत्वाकर्षण का नाम दिया है। वास्तव में यह ठोस वस्तु का, ठोस वस्तु के साथ सहअस्तित्व को प्रमाणित करने का विन्यास ही है। यही सम्मानजनक स्वीकृति है।

गुरुत्वाकर्षण में छोटे बड़े की परिकल्पना दौड़ती है। सहअस्तित्व रूप में यह देखा गया है कि प्रत्येक एक अपने वातावरण सहित संपूर्ण है। इसमें छोटा बड़ा होता ही नहीं है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है। ये दोनों सिद्धान्त स्वभाव गति और निश्चित आचरण के योगफल में संपन्न होता हुआ देखने को मिलता है। इसी क्रम में प्रत्येक वस्तु इस धरती का अंगभूत होने के फलस्वरूप, धरती के साथ सह-अस्तित्व को निभाना एक स्वभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का विन्यास इस धरती के वातावरण तक मर्यादित रहना पाया जाता है। यह धरती भी अपने वातावरण सहित संपूर्ण है। संपूर्णता में समाहित जितने भी अंग अवयव है, ये सब संपूर्ण के साथ मर्यादित रहना पाया जाता है। मर्यादित का तात्पर्य निश्चित विन्यास से निश्चित आशय को प्रमाणित करने से है। ऐसे निश्चित आशय ठोस - ठोस के साथ, तरल - तरल के साथ, विरल - विरल के साथ सहअस्तित्व को प्रमाणित करना ही है। सहअस्तित्व को प्रमाणित करने के क्रम में जो कुछ भी क्रिया होता है, उसे हम विन्यास कहते हैं। इसका फलन सह-अस्तित्व का प्रमाण ही है। इस विधि से सहअस्तित्व ही अस्तित्व होने का समझ पूरा होता है।

सापेक्षता में छोटे बड़े का बोध होता है। संपूर्णता ओझिल हो जाता है। संपूर्णता में ही प्रत्येक एक का सम्मान हो पाता है, मूल्यांकन हो पाता है। ऐसा मूल्यांकन और सम्मान प्रतिष्ठा की पहचान करने वाला मानव ही है। मानव जब संपूर्णता के साथ सहअस्तिव में प्रत्येक एक को प्रमाणित करता है, ऐसी स्थिति में मानव अपने स्वयं के संपूर्णता की ओर ध्यान देना स्वाभाविक होना पाया जाता है। इसके विपरीत सापेक्ष विधि से छोटे बड़े की ओर ध्यान जाता है। स्वयं को बड़ा मानना एक आवश्यकता हो जाता है। उसे बरकरार रखने के लिए अन्य को छोटा बनाये रखना भी एक आवश्यकता बन जाती है। इस क्रम में द्रोह, विद्रोह, शोषण, भूखमारी, तोपमारी सारे काम संपन्न होते हैं। जिसके प्रति जब संवाद होता है तब उसकी अनौचित्यता को स्वीकार करते हैं। इस ढंग से मानव अंतर्विरोधी हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति को हम न घर की न घाट की भाषा से संबोधित करते हैं। इसी से अनिश्चयता वाद तैयार होता है। फलतः मानव संपूर्ण प्रकार की कुंठा अथवा आवेश का शिकार हो जाता है। स्वभाव गति से दूर हो जाता है। फलस्वरूप असामाजिकता, अव्यवस्था हाथ आती है। अव्यवस्था रूपी अप्रत्याशित घटनायें घटित होती हैं। यह पूर्णतया मानव कुल के लिए अनावश्यक सिद्ध हुआ। इसीलिए इसके विकल्प में स्वभाव गति, स्थिति,

निश्चयता के साथ निश्चित योजना सहित आशावादिता एवं प्रमाण संपन्न होना आवश्यक हो गया। यह सहअस्तित्व विधि से सर्वमानव के लिए समीचीन है।

मुख्य मुद्दा सहअस्तित्व प्रमाणित होना ही सूत्र है। हर कार्य विन्यास, प्रवृत्ति, प्रयास, क्रिया, व्यवहार, फल परिणाम के साथ ही सहअस्तित्व मूल्यांकित होना स्वाभाविक है। मूल्यांकन करने वाला मानव ही है।

सहअस्तित्ववादी अथवा सच्चाई विधि से मानव के प्रमाणित होने की दीर्घकाल से प्रतीक्षा रही है। यह प्रतिक्षा मानव में ही रही है। यह सार्थक होने के लिए सहअस्तित्ववादी क्रिया प्रणाली का अध्ययन मानव, मानवत्व सहित व्यवहार में प्रमाणित होने के लिए पर्याप्त होना पाया गया। इसीलिए इसका उद्घाटन होना आवश्यक रहा। सह-अस्तित्व ही परम सत्य है।

स्थिति गति अपने स्वरूप में दबाव और प्रवाह का संयुक्त रुप है। कुछ मिसाल में दबाव रहते हुए प्रवाह नहीं होता है। जैसे धरती के ऊपर पत्थर, धरती के ऊपर तालाब में पानी प्रवाह दिखाई नहीं पड़ता। धरती के ऊपर नदी में प्रवाह दिखाई पड़ती है। पानी के प्रवाह में दबाव सुस्पष्ट है। दबाव रहता ही है। पानी का प्रवाह ढाल की ओर, ढाल अन्ततोगत्वा समुद्र तक जुड़ना। इसलिए सभी नदी का पानी समुद्र तक पहुँचना, स्वभाविक विधि से अथवा नियति विधि से सुस्पष्ट हो चुका है। पानी का हर दबाव, प्रवाह दूसरे प्रकार के प्रवाह, दबाव में परिवर्तित हो सकता है। इसमें से दबाव ही परिवर्तन का प्रधान कारण है। जैसा पानी का वाष्प निश्चित दबाव के उपरान्त निश्चित प्रकार के यंत्रों को संचालित करने योग्य हो जाता है। जिसके फलन में चुम्बकीय विद्युत को पाया जाता है। इसमें से चुम्बकीयता दबाव के रुप में, विद्युत तरंग प्रवाह के रुप में होना स्पष्ट हो चुकी है। इससे यह पता लगता है कि कोई भी बल, दूसरे प्रकार के बल और प्रवाह का कारक बन सकता है। इसी विधि से तैलीय वस्तु को उष्मित करते हुए अर्थात् जलाते हुए कुछ यंत्रों को संचालित करना मानव परंपरा में सुलभ हो गया है। ऐसे यंत्रों से भी अनेक प्रकार के कार्य करता हुआ देखने को मिलता है। जैसे धरती, पानी, हवा में चलने वाले यंत्रों के रुप में देखने को मिलता है। ऐसे तेल दहन प्रक्रिया से विद्युत पैदा करने वाले यंत्रों को संचालित किया जाता है। फलतः विद्युत चुम्बकीय प्रवाह और दबाव होता है। इसी प्रकार विकिरणीय द्रव्यों से भी उष्मा उद्गमन प्रक्रिया पूर्वक विद्युत

प्रसारीय यंत्रों को भी संचालित किया जाना मानव ने अभ्यास किया है। इनके विसर्जन अर्थात् खनिज, कोयला, तेल और विकिरणीय द्रव्यों का विसर्जन अथवा अवशेष प्रदूषण का कारण बन बैठा है। इस मुद्दे पर पहले अध्ययन कर चुके हैं। इसके विकल्प के संदर्भ में भी प्रस्ताव के रूप में पानी के प्रवाह बल की ओर ध्यानाकर्षण किया गया है। इसी के साथ हवा और समुद्री तरंग की ओर भी ध्यान जाना आवश्यक है। सूर्य उष्मा की ओर भी मानव का ध्यान जाना, चुम्बकीय विद्युत धारा को प्राप्त करने के क्रम से उत्साहित होने की आवश्यकता है। तभी मानव का प्रदूषण कारी नियति विरोधी, विकास विरोधी, जागृति विरोधी, मानव विरोधी, धरती के वातावरण विरोधी, महा अपराध परंपरा से मुक्ति पाना संभव है। यह अस्तित्व विधि से स्थिति गति को जाँचने पर पता लगता है (जाँचने का मतलब परीक्षण, निरीक्षण, सर्वेक्षण पूर्वक निश्चय करने से है) कि सभी इकाईयों की स्थिति में बल, गति में शक्ति का प्रदर्शन, प्रकाशन किये रहते हैं। ऐसी स्थिति, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े, सम्पूर्ण इकाईयों में समान रुप में होना पाया जाता है। स्थिति गति संपन्न इकाई व्यवस्था व व्यवस्था में भागीदारी के रुप में होना पहले से स्पष्ट हो चुका है। **स्थिति में बल संपन्नता का मतलब स्वयं में व्यवस्था का प्रमाण, गति में शक्ति का मतलब समग्र व्यवस्था में भागीदारी है।** मूलतः हर इकाई व्यापक वस्तु में संपृक्त रहने के फलस्वरुप ऊर्जा संपन्नता, बल संपन्नता होना ज्ञातव्य है। हर इकाई के मूल में परमाणु ही है। परमाणु ही भौतिक, रासायनिक, जीवन क्रिया के रुप में कार्य करता हुआ सुस्पष्ट है। जीवन परमाणु अणु बंधन, भार बंधन से मुक्त तथा भ्रमवश आशा, विचार, इच्छा बंधन से युक्त रहते हैं। अन्य सभी परमाणु जो भौतिक रासायनिक क्रिया में भागीदारी करते हैं, ये सब अणु बंधन, भार बंधन से युक्त रहते हैं। ऐसे अणु बंधन, भार बंधन वश ही छोटी रचना, बड़ी रचना के रुप में रचित होना पाया जाता है। सबसे छोटी रचना परमाणु ही है। परमाणु ही अणु और अणु रचित रचना के रुप में वैभव को प्रकट करते हैं। ऐसे वैभव का स्वरुप सहअस्तित्व सूत्र से ही अनुप्राणित रहता है। जैसा, एक परमाणु में एक से अधिक अंश होना, एक अणु में एक से अधिक परमाणु होना, अणु रचना में एक से अधिक अणु होना, ये सब अपने आप में सहअस्तित्व सूत्र से अनुप्राणित रहने वाले प्रमाण है। रचनाओं में भौतिक रचना, रासायनिक रचना ही होते हैं। इन रचनाओं में एक दूसरे के लिए पूरक और उपयोगी होना सुस्पष्ट हो चुका है। इन सभी प्रजाति के अणु में, स्थिति और गति दोनों की अभिव्यक्ति निरंतर वर्तमान है।

ये कभी रुकने वाला नहीं है। सदा-सदा से ये क्रियाकलाप और प्रकाशन वर्तमान ही है। इसीलिए मानव इन सबका अध्ययन करने योग्य इकाई के रुप में प्रस्तुत है। इसीलिए स्वयं भी स्थिति में व्यवस्था, गति में समग्र व्यवस्था में भागीदारी को मानव को प्रमाणित करना है। तभी मनः स्वस्थता का प्रमाण, परंपरा में प्रस्तुत होता है। मनः स्वस्थता के बिना मानव में सर्वतोमुखी समाधान होना संभव ही नहीं है। इसीलिए मनः स्वस्थता मानव के लिए अत्यावश्यक अथवा परम आवश्यक उपलब्धि है।

इसी क्रम में समझदारी के आधार पर मानव अपने में सर्वतोमुखी समाधान रुपी मनः स्वस्थता के सूत्र में वैभवित होना स्वभाविक है। ऐसा वैभव ही अर्थात् समाधान संपन्नता ही समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व को प्रमाणित करने में योग्य हो जाता है अथवा सफल हो जाता है। यही सफलता मानव परंपरा में, से, के लिए त्राण और प्राण है। त्राण का मतलब स्थिति है, प्राण का मतलब गति है। गति में प्रेरणा होना, वातावरण में अथवा प्रभाव क्षेत्र में व्यवस्था प्रमाणित होना, स्थिति में स्वयं व्यवस्था ही वैभव का सार्थक स्वरुप है। ऐसे वैभव को बनाये रखने में मानव में आशावादी प्रवृत्ति है ही। इसी प्रकार परमाणु में स्थिति में बल, गति में शक्ति का अर्थात् प्रभाव क्षेत्र संपन्न होना पाया जाता है। इस परस्पर प्रभाव क्षेत्र का सुरक्षित रहना ही परस्परता में अच्छी दूरी है। ऐसे प्रभावों से संपन्न हर इकाई परस्परता में अपने-अपने मौलिकता को बनाये रखने में सफल है, इसी का नाम है नियंत्रण।

परस्परता में अच्छी दूरी इस तरह से स्पष्ट हुई कि परस्परता में एक दूसरे का प्रभाव क्षेत्र बना रहे, सुरक्षित रहे। यह प्रभाव क्षेत्र व्यापक वस्तु में ही होना पाया जाता है। स्थिति भी, आकार, आयतन, घन भी व्यापक वस्तु में ही होना पाया जाता है। ये आकार क्रिया सहित ही होना पाया जाता है। हर परमाणु में क्रिया श्रम, गति, परिणाम के रुप में है। **श्रम अपने में यथास्थिति का वैभव, गति अपने में प्रभाव को फैलाने का वैभव, परिणाम भिन्न यथास्थिति का वैभव होना पाया जाता है। इस प्रकार हर परिणाम मात्रात्मक व गुणात्मक श्रृंखला में सजा हुआ है।** इसी में परिणाम ध्रुव, दीर्घ परिणाम के रुप में होना पाया जाता है। ये मुख्य रुप में यथास्थितियों की स्थिरता, अस्थिरता की गणना में स्पष्ट होती है। प्रत्येक यथास्थितियाँ सहअस्तित्व सूत्र से सूत्रित होने के आधार पर पूरकता और उपयोगिता पूरकता के अर्थ में सार्थक रहता है। इस प्रकार सभी वस्तु की

सार्थकता समझ में आती है। एक अणु का भी ऐसा ही इतिहास है, एक अणु दूसरे अणु के साथ भी, परमाणु का प्रभाव क्षेत्र संबंधी क्षेत्र नियंत्रण बनाये रखते हुए एक दूसरे के साथ जुड़ कर पिण्ड रुप हो जाते हैं। इसमें मानव का कोई योगदान नहीं रहता है। ये सारे क्रिया कलाप, पूरकता और उपयोगिता विधि से जागृति और उसकी निरंतरता तक में सार्थकता को प्रमाणित किये रहते हैं। सभी अवस्थायें एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई होती हैं। जैसे भौतिक क्रिया कलाप को रासायनिक क्रियाकलाप से, रासायनिक क्रिया कलाप को जीवों के क्रिया कलाप से और भौतिक रासायनिक क्रिया कलाप को मानव के क्रियाकलाप से अलग रखते हुए कोई कार्य व्यवहार संपन्न नहीं होता है, ना ही संपन्न किया जा सकता है। ये सब मानव के साथ अविभाज्य रुप में जुड़े ही रहते हैं। इनकी मर्यादायें निभाते ही रहते हैं। इनके साथ मर्यादा निभाने के लिए मानव को जानकारी होने की आवश्यकता है।

मानवेत्तर संपूर्ण प्रकृति मानव के लिए उपयोगी होते हुए मानव, मानवेत्तर प्रकृति के लिए पूरक होने से वंचित रहना ही संपूर्ण समस्याकारी प्रवृतियों का आधार रहा है। इससे क्रमागत विधि से जो कुछ भी उपलब्धियाँ मनाकार को सार्थक करने में हुई, उसका भी उपयोग सदुपयोग का रास्ता इसीलिए अड़चन में पड़ गया कि मनः स्वस्थता का भाग अपने आप में उपेक्षित रहा। इसीलिए इस वर्तमान में मनः स्वस्थता का अति आवश्यक होना समझ में आता है। सहअस्तित्व विधि से ही मनः स्वस्थता सर्वसुलभ होना पाया जाता है, यही सर्वशुभ की संभावना सुस्पष्ट है। मानव अपने में समाधान संपन्नता के उपरान्त ही मनः स्वस्थता को प्रमाणित करने में समर्थ होता है। समझ की परिपूर्णता ही मनः स्वस्थता का स्वरुप है। समझ सहअस्तित्व सहज स्वीकृति है। इस प्रकार संपूर्ण ज्ञान स्वीकृति के रुप में है। स्वीकृति, अस्वीकृति का अधिकार हर मानव में निहित है ही।

स्थिति गति का वैभव धरती, सौर व्यूह, अनेक सौर व्यूह, आकाश गंगा, सभी आकाश गंगा में होना पाया जाता है। इसका प्रमाण यह है, परमाणु से लेकर धरती तक सभी अपने अपने स्थिति गति में प्रमाणित होने तक अध्ययन गम्य हो जाता है। यहाँ तक अध्ययन हर मानव के लिए सुलभ है। इसके अनन्तर ऐसे ग्रह गोलों की स्थिति गति की स्वीकृति होती है। इसी प्रकार आकाश गंगा भी अनेक सौर व्यूहों का क्रियाकलाप होने के आधार पर स्थिति गति की स्वीकृति होती है। इसी के साथ व्यापक वस्तु की स्वीकृति रहती है। अतएव

स्वीकृति की विशालता में से अपनी आवश्यकताओं को, प्रमाणों के रुप से अध्ययन करना मानव की एक आवश्यकता है। स्वीकृति के आधार पर अध्ययन होने की व्यवस्था मानव की आवश्यकता अनुसार निर्भर है। जानने मानने की विशालता, व्यापक और अनंत के संबंध में स्वीकार चुके हैं। व्यापक और अनंत के बारे में जानने मानने के आधार पर किसी एक देशीय अध्ययन से, एक इकाई के अध्ययन से ऐसी सभी इकाईयों के रुप, गुण, स्वभाव, धर्म के प्रति आश्वस्त होना स्पष्ट हो चुका है। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि समुद्र के एक बूंद पानी के परीक्षण से पूरे समुद्र का पानी कैसा है, इसको हम स्वीकार लेते हैं। लेकिन जितना है, इसको मापने कौन तैयार होता है, अपनी आवश्यकता के अनुसार नापते है। मानव की आवश्यकता भी सीमित है। नापने की क्रियाकलाप के परीक्षण से पता चलता है कि यह जोड़ना घटाना ही है, नापने में 1,2,3 ही लगता है। तौलने में भी। इसी प्रकार घटाना भी बनता है, एक तरफ जोड़ते हैं, एक तरफ घटता भी है। जोड़ने, घटाने दोनों को मिलाने से यथास्थिति ही हाथ लगती है। जैसा है, जितना है, यही यथास्थिति है। ऐसी यथास्थिति न ज्यादा है, न कम है, न घटता है, न बढ़ता है। इस स्थिति से अस्तित्व न घटता, न बढ़ता है। इस विधि से हमारी परीक्षण करने की सीमायें, अपनी आवश्यकता पर निर्भर रहना स्पष्ट हो जाती है। जोड़, घटाने के क्रम में ऋण अनन्त, धन अनन्त रुपी अर्थ मानव स्वीकार चुका है। इस प्रकार से अस्तित्व में अनन्त की कल्पना अथवा स्वीकृति, कुछ हद तक संख्याकरण न कर पाने के रुप में मानव परंपरा में स्वीकृत हो चुकी है। अभी तक व्यापक वस्तु का बोध अप्रचलित है। व्यापक वस्तु का बोध होने के उपरान्त अनन्त वस्तुएं कैसे हैं, इसका उत्तर मिल गया। अतएव समझदारी रुपी अध्ययन, व्यापक में अनन्त अविभाज्य होने का अर्थ सर्वतोमुखी समाधान होने का आधार होना पाया गया। इसी क्रम में हर इकाई अपने स्थिति, गति के साथ वर्तमान है। वर्तमान का तात्पर्य वर्तते रहना है। वर्तते रहने का तात्पर्य क्रियाशील रहना है। क्रियाशील रहने का तात्पर्य आचरण स्पष्ट रहना है। आचरण स्पष्ट रहने का तात्पर्य स्थिति में त्व सहित व्यवस्था, गति में समग्र व्यवस्था में भागीदारी से है। यह धरती एक सौर व्यूह सूर्य के साथ जुड़े सभी ग्रह गोलों के समूह में भागीदारी करती हुई समझ में आती है। सभी ग्रह गोल अपने-अपने स्थिति गति में अनवरत कार्यरत हैं। एक दूसरे के हस्तक्षेप के बिना सभी एक दूसरे को पहचानते हुए निश्चित आचरण कर रहे हैं और सौर व्यूह की व्यवस्था में भागीदारी कर रहे हैं।

इसीलिए स्थिति है ही, गति भी है। इसी आधार पर धरती की स्थिति गति सबंधी अध्ययन भी हमारे समझ आना स्वभाविक है। इसी क्रम में एक सौर व्यूह अनेक सौर व्यूह के साथ निश्चित अच्छी दूरी में कार्य विन्यास करते हुए, सौर व्यूह त्व के वैभव को प्रकाशित करता है। ऐसे अनेकानेक सौर व्यूहों को अथवा ग्रह-व्यूहों को आज कल वैज्ञानिकों ने आकाश गंगा नाम दिया। आकाश गंगा भी अनेक होना पाया जाता है। ये सभी परस्परता में अच्छी दूरी में रहते हुए बड़ी व्यवस्था को बनाये रखने में भागीदारी करते हैं।

12. परावर्तन-प्रत्यावर्तन

स्थिति-गति, बल-शक्ति के मुद्दे पर छोटे से छोटे, बड़े से बड़े इकाइयों के साथ, वह भी सभी पद और अवस्था में स्पष्ट हो चुकी है। अब परावर्तन-प्रत्यावर्तन संबंधी ज्ञान, विचार, निर्णय, प्रमाण, फल, परिणाम, ज्ञान का गवाही होने पर ध्यान देते हैं। गम्यस्थली के अर्थ में ही मानव सारे कार्य कलाप संपन्न करना चाहता है। जैसे मानव चलने लगता है, उसकी गम्यस्थली उसके सामने होना आवश्यक है। गम्यस्थली न हो, चलना ही हो, ऐसे मानव को हम क्या कहेंगे, हर मानव सोच सकता है। इसी प्रकार एक चींटी भी, एक हाथी भी, पशु पक्षी भी, जीव जन्तु भी, जितने भी चलायमान है, उनके गम्यस्थली उन-उन के साथ जुड़ा ही रहता है। इसका प्रमाण यही है कि सभी चल कर कोई निश्चित जगह पर पहुँचते रहते हैं। जल में तैरने वाले मगरमच्छ भी तैरते हुए निश्चित, निर्धारित जगह पर होते हैं। इस तरह से कुछ वस्तु धरती के हर स्थल पर होने वाले होते हैं। कुछ कहीं कहीं होने वाले होते हैं। कुछ अत्यल्प जगह में होने वाले होते हैं। जैसे हवा धरती के सभी ओर रहता है, सूर्य का प्रकाश एक ओर रहता है, एक ओर नहीं रहता है, जैसे नदी दूर-दूर तक बहती है, जैसे पहाड़ एक ही जगह में दिखाई पड़ता है। जैसा झाड़-पौधे एक ही जगह में रहते हैं। इसी धरती में मानव भी रहता है पक्षी भी रहता है। कुछ वर्ष पहले मानव ऐसा सोचता था कि पक्षियाँ ही दूर-दूर जाते हैं वह बदलकर अब मानव भी पूरी धरती में घूमता है। घूमते हुए भी कोई न कोई जगह में, स्थान में होता ही है। होना एक अवश्यंभावी रहता ही है। यह स्थिति-गति के साथ जुड़ी हुई तथ्य है। स्थिति के बिना गति होती नहीं। यह सिद्धान्त अथवा सकारात्मक स्थिति के साथ ही गति प्रमाणित होता है। मानव की स्थिति गति सुस्पष्ट है। एक जगह से दूसरी जगह जाते हुए मानव का होना भी, स्थानांतरण होना भी दिखाई पड़ता है। इसके साथ-साथ परावर्तन-प्रत्यावर्तन क्रिया भी संपादित होती रहती है।

ऐसे परावर्तन-प्रत्यावर्तन को हम पहचानने, पहचानवाने के रुप में समझने, समझने के रुप में सीखने, सीखने के रुप में हम अपने में होना पाते हैं। इसमें से समझने समझाने का जो भाग है, इसी में परावर्तन प्रत्यावर्तन सुस्पष्ट होता है। प्रत्यावर्तन विधि से समझते है, समझाने की विधि से परावर्तित होते हैं। मानव के लिए जितनी भी क्रियायें हैं, वे कायिक,

वाचिक, मानसिक, कृत, कारित, अनुमोदित भेदों से है। इन सबके मूल में परावर्तन, परावर्तन के मूल में प्रत्यावर्तन, प्रत्यावर्तन के वैभव में परावर्तन क्रिया अनूस्युत विधि से संपादित होती है। परावर्तन की सार्थकता तभी संतोषजनक हो पायी है, जब समझने के लिए इच्छुक मानव हो। ऐसे मानव के साथ ही परावर्तन क्रिया अर्थात् समझे हुए को समझाने की क्रिया सार्थक होता हुआ देखने को मिलता है। परावर्तन की सार्थकता में इतना सुनिश्चित होना आवश्यक है कि परावर्तन क्रम, कार्य, व्यवहार, फल, प्रयोजन संगत हो। कार्य में उत्पादन का आधार, व्यवहार में न्याय का आधार, फलन में मानवाकाँक्षा के आधार, प्रयोजन में जीवन लक्ष्य के आधार पर सार्थक होना पाया जाता है। इनकी अर्थात् उत्पादन, न्याय, मानवाकाँक्षा, जीवनाकाँक्षा सार्थक होने की स्वीकृति हर मानव में सहज है। यह मुद्दा पहले स्पष्ट हो चुका है।

हर मानव का समझदार होना एक साधारण घटना है, सामान्य घटना है, सबसे वांछित घटना है। समझदार होने के फलन में ही अन्य सभी कड़ियाँ अपने आप जुड़ती हैं। समझदारी के साथ ही फल परिणाम तृप्ति का स्रोत बनना आवश्यक है। फल परिणाम मानवाकाँक्षा सार्थक होने से है, समझदारी का प्रमाण भी मानवाकाँक्षा के सार्थक होने से है, मानव का सम्पूर्ण कार्य व्यवहार की सार्थकता भी मानवाकाँक्षा का सार्थक होना है। मानव की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रक्रिया भी मानवाकाँक्षा के सार्थक होने से है। मानवीय व्यवस्था, मानवीय शिक्षा, मानव के सोच विचार की सार्थकता यदि कुछ है तो वह केवल मानवाकाँक्षा पूरा होने से है। इसमें मुख्य बात यही है अर्थात् यह सब कहने का मुख्य मुद्‌दा यही है कि मानवाकाँक्षा पूरा होने से जीवनाकाँक्षा पूरा होता ही है।

परावर्तन में इस बात का जिक्र आ चुका है कि समझे हुए को समझाना, सीखे हुए को सिखाना, किये हुए को कराना। इसके अलावा कोई चीज होता है, तो वह है अनुमोदन, अनुमोदन भी इन तीन अर्थों में सार्थक होना पाया जाता है। इस ढंग से कृत, कारित, अनुमोदित विधि से मानव परावर्तित होता है। मानव परावर्तित होने से तात्पर्य ज्ञान, विवेक, विज्ञान संपन्नता ही मानव का मूल, मौलिक स्वरुप है। यही परावर्तित होती है। परावर्तित होने का तात्पर्य ऊपर कहे गये कृत, कारित, अनुमोदित विधियों से प्रमाणित होने से ही है। ऐसे परावर्तन क्रम में ही अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में मानव का मूल्यांकन हो जाता है

। अखंड समाज विधा में मानव आवश्यकता का ख्याति हो जाता है अथवा सूत्र व्यवस्था हो जाता है। तीसरी विधि से, अर्थ व्याख्या हो जाता है। मानव आवश्यकता के अर्थ में परिवार व्यवस्था से सार्वभौम व्यवस्था में मानव की बात स्पष्ट हो चुकी है। मानव रुपी अर्थ इसी क्रम में प्रमाणित हो जाता है, सार्थक हो जाता है। इसी के लिए सम्पूर्ण ज्ञान, विवेक, विज्ञान सूत्र से व्याख्या तक पहुँचता है। इसमें से सह अस्तित्व रुपी बीज आँकाक्षा के रुप में, ज्ञान विवेक विज्ञान सूत्र के रुप में, कार्य व्यवहार और व्यवस्था व्याख्या के रुप में संपन्न होता हुआ दिखता है। यही जागृत मानव परंपरा का प्रमाण है। अतएव मानव सहज जागृत प्रवृत्ति सुस्पष्ट हो गया। इसे स्पष्ट करना ही प्रमाण, प्रमाण के लिए जितने भी कार्य व्यवहार करेगें, ये सब परावर्तन है। परावर्तन के लक्ष्य पूर्ति प्रमाणित हो जाती है, आशय पूर्ति पूरी है। सर्वशुभ सुन्दर समाधानपूर्ण अपेक्षा सार्थक हो जाती है।

सुखी होना आशय है। मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व में जीता हुआ प्रमाण है। अपेक्षा सार्वभौमता और अखंडता ही है। आशय, लक्ष्य, अपेक्षा अपने आप में पूरक विधि से सार्थक हो जाते हैं। लक्ष्य जब पूरा होता है, समाधान सुख रुप में; समाधान समृद्धि, शान्ति के रुप में; समाधान समृद्धि, अभय, संतोष के रुप में और समाधान समृद्धि अभय सह-अस्तित्व, आनन्द के रुप में अनुभव होता है। इसी क्रम में सह अस्तित्व में अनुभव, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में अनुभव, आवश्यकता से अधिक उत्पादन में स्वतंत्रता का अनुभव, हर गतिविधि में समाधान का अनुभव ही सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द के रुप में ख्यात होना देखा गया है। इसे हर आदमी अपने अनुभव की कसौटी में जाँच सकता है। इसे जीने के उपरान्त ही हम फल परिणाम को सत्यापित किये हैं। लोक व्यापीकरण करने में ही सन्तुष्टि है।

हर व्यक्ति अनुभवगामी विधि से अध्ययन, शोध, परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक अनुभव और परावर्तन में अनुभवमूलक प्रणाली से मानवाकाँक्षाओं को प्रमाणित करना हो जाता है। इस प्रकार अध्ययन, बोध, अनुभवमूलक विधि से अनुभवमूलक प्रणाली पूर्वक मानवाकाँक्षा के अर्थ में जीना बन जाता है। यही अध्ययन का मूल उद्देश्य है। अनुभव मूलक विधि से जीने वाले व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होने के क्रम में ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का प्रमाण होना, क्रम से समाधान समृद्धि अभय सह-अस्तित्व में प्रमाण हो जाना, हर जागृत

व्यक्ति का पहचान हो पाता है। इतना ही नहीं हर नर नारी जागृत होना चाहते ही हैं, इसीलिए जागृत होने योग्य शिक्षा का लोक व्यापीकरण करना ही एक मात्र उपाय है। मानवीय शिक्षा में मानव में, से, के लिए आवश्यकीय सभी मुद्दे अध्ययन के लिए वस्तु है।

इस ढंग से मानव परंपरा उत्तरोत्तर जागृत होने के रुप में परावर्तित रहता ही है। प्रत्यावर्तन में सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द से सराबोर रहता ही है। मानवाकाँक्षा अपने आप में कार्य व्यवहार व्यवस्था विधि से प्रमाणित होता ही है। यही जीने का तात्पर्य है। अर्थात् कार्य, लक्ष्य और प्रयोजन प्रमाण होना, उसकी निरंतरता बने रहना ही जीने का तात्पर्य है।

मानव कुल में से ज्ञान विज्ञान विवेक प्रमाणित होता है। यही निर्विवाद स्वत्व का स्वरुप है। ऐसे स्वत्व परावर्तन में सार्थकता का आंकलन और स्वीकृति के आधार पर ही स्वत्व में आंकलन बनता ही रहता है, निरंतर श्रेष्ठता की ओर हम अपने में से प्रमाणित होना बनता ही है। एक बार प्रमाणित होने के बाद प्रमाण विधि में श्रेष्ठता की श्रृंखला बन जाती है। यह प्रत्यावर्तन में दृढ़ता का सूत्र बनता है। मानव में प्रमाण विधि से ही सार्थक पूंजी, प्रत्यावर्तन विधि से निरंतर प्रखर और वृद्धि होते ही जाता है। वृद्धि मतलब आज एक मुद्दे में प्रमाणित हुए, कल दो मुद्दे में, परसों तीन मुद्दे में प्रमाणित होने की स्वीकृति समाहित होती जाती है। यह प्रत्यावर्तन क्रिया बोध और अनुभव में समाहित होते रहने से है अर्थात् स्वीकृति रहने में है, यही पुनःश्च परावर्तन के लिए पूंजी बना रहता है। ऐसे अनुभव ही बोध में समाधान के रुप में अवस्थित रहता है। फलस्वरूप परावर्तन में हम समाधान को प्रमाणित कर पाते हैं। इस विधि से परावर्तन क्रिया अनुभव के लिए नित्य स्रोत होना प्रत्यावर्तन विधि से स्पष्ट होता है। जागृति को प्रमाणित करने के लिए यही सूत्र और व्याख्या है। हर प्रत्यावर्तन अनुभव सूत्र है। हर परावर्तन अनुभव सूत्र की व्याख्या है। **इस विधि से मानव के स्वरुप का प्रमाण प्रत्यावर्तन में ज्ञान विज्ञान विवेक के रुप में, परावर्तन में कार्य व्यवहार व्यवस्था में भागीदारी के रुप में प्रमाणित होता है।** यही जागृत परंपरा है। पीढ़ी से पीढ़ी इसको बनाये रखना हर मानव का कर्त्तव्य और दायित्व है।

परावर्तन प्रत्यावर्तन क्रिया के संबंध में काफी अध्ययन संभव हो गया है। इसी क्रम में परंपरा में चेतना विकास मूल्य शिक्षा-संस्कार एक अनूस्युत क्रिया है। परावर्तन विधि से अध्यापन, प्रत्यावर्तन विधि से अध्ययन होना पाया जाता है। अध्यापन एक श्रुति अथवा

भाषा होना सुस्पष्ट है। भाषा का अर्थ है अस्तित्व में वस्तु होना सुस्पष्ट हो चुकी है, भाषा के अर्थ के स्वरुप में अस्तित्व में वस्तु बोध होना ही अध्ययन का मूल आशय है। यही प्रत्यावर्तन क्रिया है। सह-अस्तित्व में हर वस्तु बोध अनुभव मूलक विधि से परावर्तित हो पाती है। इस विधि में अध्ययन कार्य अनुभवगामी पद्धति से होना स्पष्ट हुई। यही प्रत्यावर्तन की महिमा है अथवा उपलब्धि है। इस विधि से परावर्तन अध्यापन क्रिया है। अर्थ बोध होना और अनुभव होना अध्ययन का फलन है। अर्थ बोध तक अध्ययन, अनुभव, प्रत्यावर्तन का अमूल्य फल है। अर्थ बोध का अनुभव के अर्थ में प्रत्यावर्तित होना एक स्वभाविक क्रिया है। क्योंकि हर अर्थ का अस्तित्व में वस्तु बोध होता है। अनुभव महिमा की रोशनी से वंचित होकर अध्ययन में वस्तु बोध होता ही नहीं। अभी तक भी जितने वस्तु बोध हुई हैं, ये सब अनुभव में ही प्रमाणित होकर अध्ययन के लिए प्रस्तुत हुए हैं।

मानव का अध्ययन वस्तु बोध के रुप में होना संभव नहीं हो पाया है। क्योंकि मानव की संपूर्णता रासायनिक भौतिक सीमा में न होकर, अथवा रासायनिक भौतिक वस्तुओं की महिमा शरीर तक ही सीमित रहने के आधार पर, मानव का सम्पूर्ण अध्ययन होना संभव भौतिकवाद के अनुसार नहीं हुआ। हर मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रुप में ही विद्यमान है और परंपरा के रुप में वर्तमान है। परंपरा के लिए शरीर एक प्रधान आधार है। परंपरा का मतलब ही होता पीढ़ी से पीढ़ी अथवा वंश परंपरा ही रहा है। शरीर परंपरा, रचना विरचना के आधार के रुप में ही सीमित है। जबकि मानव परंपरा में जीवन और शरीर संयुक्त वरीय स्थिति को प्रमाणित करता है। अर्थात् शरीर से अधिक महिमाओं को स्पष्ट कर देता है। शरीर हो, जीवन न हो, ऐसी स्थिति में मानव होता नहीं है। इसलिए मानव संज्ञा में जीवन और शरीर के संयुक्त रुप की ही स्वीकृति है। यह भी मानव की समझ में आ चुका है। शरीर ही जीवंत और निर्जीव होता है, निर्जीवता जीवन का वियोग ही है। जीवंतता ही जीवन और शरीर का सम्यक प्रकाशन है, अभिव्यक्ति है। इसी क्रम में मानव संतुष्टि और जीवन संतुष्टि को पहचानना एक आवश्यकता रही है। मानव संतुष्टि के साथ जीवन संतुष्टि सार्थक होता ही है। इस तथ्य का अध्ययन पहले स्पष्ट हो चुकी है। मानव संतुष्टि का लक्ष्य के रुप में होना, मानव जीवन सार्थक होता हुआ प्रमाणित होता है। इसी क्रम में मानव अध्ययन करने के लिए अनुभवमूलक विधि से अनुभवगामी पद्धति को अपना लिया। उसी का यहाँ स्पष्टीकरण और उल्लेख है। मानव का सहज विधि से जीवन तृप्ति का ध्यान इसीलिए आवश्यक है कि

जीवन बल, शक्ति का नियोजन पूर्वक ही शरीर संरक्षण, पोषण, समाज गति स्पष्ट होती है। जीवन न होने की स्थिति में शरीर का संरक्षण, पोषण नहीं हो पाता है। इसके विपरीत ऐसे शरीर को मृत शरीर घोषित किया जाता है और विसर्जन किया जाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि शरीर, पोषण, संरक्षण जीवंतता पूर्वक ही संपन्न होता है। इसलिए जितना हम जान पाते हैं, उससे कम चाह पाते हैं, जितना हम चाह पाते हैं, उससे कम कर पाते हैं, जितना हम कर पाते हैं, उससे कम भोग पाते हैं। परिणाम पता लगता है कि भोगने की जहाँ तक सीमा है, वह शरीर ही है। शरीर के पोषण, संरक्षण के लिए वस्तुओं का उपयोग पहचान लिया गया है, और समाज गति के लिए उपयोगी वस्तुओं के क्रिया-प्रक्रिया को भी पहचान लिया गया है। समाज गति के लिए प्रयुक्त होने वाले अथवा उपयोगी होने वाले दूर संचार यंत्रों उपकरणों को दूर संचार नाम दिया जाता है, जिसमें दूर गमन, दूरदर्शन, दूर श्रवण समाहित हैं।

जागृत मानव परंपरा में वस्तुओं का उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशील विधियाँ निष्पन्न होती हैं और प्रमाणित होती हैं। उपयोगिता अर्थात् वस्तु की उपयोगिता की सीमा परिवारगत आवश्यकता के रुप में स्पष्ट होती है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन मानव परंपरा में इसलिए संभव हो गया है कि जो कुछ भी उत्पादन करते हैं, जितना भी उत्पादन करते हैं, उतने को भोग नहीं पाते हैं। इसलिए आवश्यकता से अधिक उत्पादन सूत्र स्पष्ट हो जाता है। यह आवश्यकता से अधिक उत्पादन, इस विधि से सहज हो गया कि जीवन में अक्षय शक्ति और बल का होना, जीवन और शरीर के संयुक्त रुप में उत्पादन कार्य संपन्न होना, इसका उपयोग शरीर पोषण, संरक्षण, समाज गति के रुप नियोजित होना जो सीमित रहना अर्थात् जिसकी सीमायें निर्धारित रहना होता है। यह स्वभाविक है, यह अभी मानव परंपरा भ्रमित रहने के स्थिति में भी देखा गया है कि कम से कम लोग उत्पादन कार्य में लगे हैं, ज्यादा से ज्यादा लोग उपयोग करते रहते हैं। जागृति के पहले से ही आवश्यकता से अधिक उत्पादन मानव कुल में संपादित होने का प्रमाण स्पष्ट है। ऐसे होते हुए भी भटकने का कारण एक ही है, हमें पढ़ाई में यह बताया जाता है- ''आवश्यकता अनंत है, साधन सीमित है इसलिए संघर्ष पूर्वक ही हम अपने आवश्यकता को पूरा कर पायेंगे।'' इस नजरिये से मानव का संग्रह सुविधा की ओर ज्यादा ध्यान देना, संग्रह-सुविधा का तृप्ति बिन्दु न मिलना, आवश्यकता को अनंत मान लिया। यही भटकाव, और भ्रम का आधार है। इस

चक्कर से हम तभी छूट पायेंगे, जब यह स्पष्ट और प्रमाणित हो जाय कि हर परिवार की आवश्यकता सीमित है, आवश्यकता को पूरा करने की संभावना ज्यादा है, जीवन शक्तियाँ अक्षय हैं, जीवन और शरीर के संयुक्त रुप में ही उत्पादन होता है, शरीर की आवश्यकता सीमित है। इस नजरिये से समृद्धि की ओर हमारा ध्यान जाता है। इसका स्रोत परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन होना ही है।

उक्त विधि से परिवार की आवश्यकता निर्धारण, परिवार में ही एक या एक से अधिक व्यक्ति, परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने का सामर्थ्य रखता है। समझदार परिवार होने के उपरान्त एक ही परिवार में 2-4 व्यक्ति ऐसी उत्पादन क्षमता वाले हो जाते हैं। जब परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन होता है, तब समझदार परिवार में समाधान समृद्धि प्रमाणित होने का सौभाग्य उदय होता है। इससे यह परिवार जनों के लिए प्रसन्नता और विश्वास से संपन्न होना बन जाता है। परिवार के हर सदस्य अपने में विश्वास करने योग्य हो जाते हैं। स्वयं में विश्वास होने से ही श्रेष्ठता का सम्मान होना, समझदारी का प्रमाण होना, समझदारी संपन्नता के प्रमाण में व्यक्ति का व्यवहार में सामाजिक और व्यवसाय में स्वावलंबी होने का प्रमाण अपने आप में उदय होता है। ऐसी उदयशीलता मानव के ज्ञानावस्था की इकाई होने का फलन है। सहअस्तित्व रुपी अस्तित्व निरन्तर है। इसलिए दर्शन ज्ञान निरन्तर है, जीवन निरन्तर है, इसलिए जीवन ज्ञान निरन्तर है। मानवीय आवश्यकता निरन्तर है, इसलिए मानवीय आवश्यकता ज्ञान निरन्तर है। इन्हीं ज्ञान राशि के आधार पर विवेक संपन्न विज्ञान, विज्ञान संपन्न विवेक विधि से जीवन लक्ष्य और मानव लक्ष्य प्रमाणित होने की विधि का निश्चयन करना ही संपूर्ण सहअस्तित्व वादी प्रबंध, शास्त्र, विचार, और दर्शन है, यही अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिंतन ज्ञान, मध्यस्थ दर्शन है।

इस क्रम में हर आयाम में दर्शन, विचार, शास्त्र, ज्ञान से संपन्न होने की अनवरत सम्भावना बनी ही है। इसीलिए मानव परंपरा का जागृत होना एक अवश्यम्भावी स्थिति है। इसके लिए अस्तित्व सहज प्रेरणा ज्ञानावस्था के मानव में प्रमाणित है, नित्य प्रभावी है। इसलिए मानव सोचने, समझने, प्रमाणित होने में प्रयत्नशील है। इस क्रम में ही मानव का अभ्युदय प्रमाणित हो जाता है। मानव का अभ्युदय अपने स्वरुप में सर्वतोमुखी समाधान अर्थात् सम्पूर्ण समाधान के रुप में ही प्रमाणित हो जाता है। सम्पूर्ण ज्ञान ही सम्पूर्ण समाधान

है। क्योंकि ज्ञान के आधार पर ही विज्ञान और विवेक सम्मत समाधान, निर्णयों के रुप में निकलती है। यह अजस्त्र क्रिया है, अनवरत, सदा-सदा क्रिया है।

यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि मानव समझ के आधार पर परावर्तन होने के क्रम में अनुभव प्रमाणों को प्रस्तुत करता है, जिसके फलन में जीवनाकाँक्षा, मानवाकाँक्षा प्रमाणित होना स्पष्ट होता है। इसके साथ यह भी स्पष्ट होता है कि अनुभव मूलक विधि से समझे हुए को समझाने, सीखे हुए को सिखाने, किये हुए को कराने की विधियाँ अनुभवमूलक परावर्तन से सार्थक होती हैं। इसी क्रम में जो कुछ भी मानव का उत्पादन है, वह उसका परिवार की सीमा में उपयोग, समाज के अर्थ में सदुपयोग और सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में प्रयोजनशील होना इंगित हो चुका है। यह भी इंगित हुआ है कि मानव की आवश्यकतायें शरीर पोषण, संरक्षण, समाज गति की सीमा में है। समाज गति अपने में अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था का संयुक्त गति है। अखण्ड समाज अपने में पहले से सुस्पष्ट हो चुका है।

सभी परिवार समाधान, समृद्धि सम्पन्नता के उपरान्त वस्तुओं को कहाँ नियोजित करेंगे, यह प्रश्न समान रुप में उदय होता ही है। इसमें यह इस प्रकार से अनुभव किया गया है कि मानव परिवार में समाधान, समृद्धि सम्पन्न होने के उपरान्त उपकार प्रवृत्ति उदय होती है। समझदार परिवार का जनप्रतिनिधि ही समग्र व्यवस्था में भागीदारी करेगा। समाज गति के लिए जो कुछ भी वस्तुएँ नियोजित होती हैं, ये सब समृद्ध परिवार से ही प्रदत्त रहता है। यहाँ तक हर हालत में, अर्थात् कितने भी जागृत होने के उपरान्त भी, नियोजन होता ही है। इस प्रकार समाज गति के साथ ही व्यवस्था को मानव प्रमाणित कर पाते हैं। व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ एक जन प्रतिनिधि, किसी परिवार का ही रहेगा। उनके शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति के लिए जितने भी वस्तुयें चाहिए, वह सब समझदार समृद्ध परिवार द्वारा प्रदत्त रहेगा। इस प्रकार हर परिवार से समाज गति में भागीदारी, योगदान और वस्तुओं का उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजन अपने आप में सुनिश्चित रहता है। इसी स्थिति गति में वैभवित, जागृत मानव परंपरा के रुप में होना पाया जाता है।

जागृत मानव सहज परावर्तन प्रत्यावर्तन क्रियाकलाप विधा में कुछ मुद्दों पर अध्ययन करने की आवश्यकता को अनुभव करते हुए प्रस्तुत किया गया। परावर्तन प्रत्यावर्तन क्रियाओं का मूल आशय हर मानव अर्थात् हर नर-नारी में स्वस्थ, सुन्दर, सुखद, सौभाग्य सम्पन्नता

पूर्वक जागृति का प्रमाण प्रस्तुत करने के अर्थ में पहचाना गया है। परम सौभाग्य को हर मानव में जागृति, समझ, ज्ञान, विज्ञान, विवेक के रुप में पहचान होना एक सहज क्रिया है। सुखद स्थिति गति का प्रमाण समाधान, समृद्धिपूर्वक परस्पर पहचान होना, विश्वास होना पाया जाता है। सुखी होने का विश्वास भी समाधान समृद्धि के आधार पर हो पाता है। सुन्दरता को हम जागृत मानव परम्परा में व्यक्तित्व के रुप में पहचानते हैं, व्यक्तित्व अपने में समझदारी के अनुरुप किया जाने वाला आहार, विहार, व्यवहार ही है। व्यवहार सेवन से संबंध, मूल्य, मूल्यांकन, उभय तृप्ति सहित संबंधों का सेवन होता है। ऐसे सेवन में सेव्यता और सेवकीयता दोनों समाया रहता है। सेव्य, सेवा विद्या में संपूर्ण संबंध, प्रयोजनों के अर्थ में निर्वाह किया जाना बनता है। फलस्वरुप प्रयोजन का सेवन होता ही है। प्रयोजनों का मुख्य रुप जागृति, व्यवस्था में मानव और आकाँक्षा का प्रमाण ही है। इन प्रयोजनों के अर्थ में हर संबंध को पहचानना, समझदारी की महिमा है। मानव में कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता से समझदारी, ईमानदारी और भागीदारी पर्यन्त जो अध्ययन, प्रयोग और प्रमाण वैभव है, केवल मानव में ही प्रमाणित है। यह सर्व मानव में, से, के लिये समान है; चाहे छोटा हो, बड़ा हो, दुर्बल हो, पतला हो, गोरा हो, काला हो, धरती के किसी भी अंगभूत देशों में हो, काल में हो; सभी मानव में समझदारी की सम्भावना, उपलब्धि सम्भावना समीचीनता समान है। उपलब्धि का प्रमाण, यह मानव परम्परा में व्यवस्था पूर्वक स्पष्ट होने का सम्पूर्ण गौरवमयी ढांचा खांचा होना पाया जाता है। ऐसा ढांचा खांचा अथवा यह वैभव मानव का परावर्तन-प्रत्यावर्तन विधि से प्रमाणित हो पाता है। इसका दूसरा कोई मापदण्ड व प्रक्रिया होता नहीं। समझदारी का परावर्तन-प्रत्यावर्तन प्रयोजन के चलते मानव अपने में अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रुप में सूत्र और व्याख्या परावर्तित-प्रत्यावर्तित होना ही प्रमाण है। यही अध्ययन, अध्यापन, मूल्य, मूल्यांकन, समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व के रुप में प्रमाणित होना, सर्वथा सुलभ व स्वीकृत है। यह प्रमाणित होना ही परावर्तन-प्रत्यावर्तन का प्रयोजन है। यही मानव परम्परा का भी प्रयोजन है। यही नियति विधि से गम्य स्थलीय है। यही सर्व मानव की आवश्यकता है।

13. दबाव, प्रवाह, तरंग, विद्युत चुम्बकीय बल

दबाव- स्वभाव गति से भिन्न, सम विषम आवेश के लिए प्राप्त विवशतायें दबाव है।

प्रवाह- निरन्तर रस द्रव्य का ढाल की ओर गति प्रवाह है।

तरंग- ठोस, तरल, विरल में भिन्न-भिन्न रुप में भिन्न-भिन्न तरीके से तरंग होना पाया जाता है। ठोस वस्तु में कम्पनात्मक गति के रुप में तरंग है। तरल (पानी) में हवा के संयोग से अथवा किसी पदार्थ, जीव-जानवर, मानव के संयोग से उत्पन्न प्रतिक्रिया तरंग के रुप में है। जैसे, मानव के पत्थर फेंकने से, कूदने से, हवा के दबाव से पानी कम्पानत्मक गति (ऊपर नीचे होता है) सहित दौड़ता है। यही तरंग के नाम से जाना जाता है। विरल वस्तु में शब्द, ताप, विद्युत, किरण, विकिरण तरंग रूप में प्रमाणित होते है।

विद्युत तरंग- यह चुम्बकीय धारा के विखंडन से उत्पन्न प्रवाह है। चुम्बकीय धारा जिन छोटे-छोटे रुप में विखंडित हो पाते हैं, वे टुकड़े किसी माध्यम से सम्प्रेषित होते हैं, अर्थात् दौड़ते हैं। माध्यम के बारे में, संपूर्ण प्रकृति विद्युत धारा का धारक वाहक होना पाया जाता है। संपूर्ण प्रकृति विद्युत ग्राही है, कम से कम या अधिक से अधिक। यह कम या अधिक होना दबाव, प्रवाह, मात्रा विधि से तय होता है।

ध्वनि तरंग- ध्वनि और भाषा-तरंग, ध्वनि एक से अधिक वस्तुओं के संघर्ष से, एक में होने वाली स्वयं स्फूर्त क्रिया से ध्वनि होना पाया जाता है। इसके प्रयोग में कोई दो पत्थर को घिसने से ध्वनि होता है। कोई भी दो धातु के आपस में टकराने से ध्वनि होता है। इसी प्रकार पत्ते हवा से हिलने पर भी ध्वनि होता है। इसी प्रकार मानव गला, तालु, ओंठ, जीभ के संयोग से ध्वनि पैदा करते हैं, इसको राग कहते हैं, यह भी ध्वनि ही है। इसी प्रकार से गाय, बैल, भैंस, बकरी, जीव-जानवर अपने-अपने ढंग से ध्वनि निष्पादित करते हैं। जीव, जानवर, चिड़िया, मेंढक आदि के ध्वनि, उन-उन प्रजाति के लिए भाषा भले ही हो, और प्रकृति के लिए ध्वनि रुप ही स्वीकार हुआ है। वैसे ही, मानव के लिए भी अपनी भाषा अर्थ संगत भले हो, अन्य प्रकृति के लिए ध्वनि होना ही प्रमाणित है। कोई-कोई जीव-

जानवर ऐसे हैं, जो मानव के संकेतों का अनुकरण कर लेते हैं। इस प्रकार ध्वनि और भाषा का स्पष्ट स्वरुप मानव को समझ में आता है। अर्थ को इंगित कराने वाले शब्द तरंग को भाषा तरंग कहते हैं। इन दोनों प्रकार की निष्पत्ति स्थली से जुड़े हुए जितने भी विरल पदार्थ रहते हैं, उनके ऊपर उसका दबाव होना पाया जाता है। फलतः वातावरण स्थली अणु समूह के ऊपर जो दबाव आरोपित हुई, और उनमें कम्पन तैयार हुई, इसको हम तरंग कह रहे हैं। इस विधि से तरंग, अणु से अणु को संप्रेषित होते हुए अथवा अनुप्राणित होते हुए दूर-दूर तक पहुँच जाते हैं। ऐसे शब्द और ध्वनि को विद्युतवाहिता पूर्वक प्रसारित करने की क्रिया को रेडियो, टेलीविजन तरंग माना जा रहा है। इस स्वरुप में हमें शब्द तरंग को इसलिए समझना जरुरी है कि हम मानव शब्दों को जितना भी प्रयोग करते हैं, उसकी सार्थकता को अपने नजरिये में बनाया रखना जरुरी है। क्योंकि, हम स्वयं सार्थक होना चाहते हैं। सार्थकता का स्वरुप पहले स्पष्ट हो चुका है। सार्थकता का सूत्र मानव के समझदार होने से, व्यवहार व्यवस्था में जीने से, जीवनाकाँक्षा मानवाकाँक्षा को प्रमाणित करने से है। इसीलिए हर शब्द को सार्थकता के अर्थ में प्रयोग करना जरुरी है।

विद्युत चुम्बकीय तरंग को मानव, प्राकृतिक विधि से बिजली चमकता हुआ रुप में या प्रकाश के रुप में देखता है। इसके मूल में निश्चित दूरी में बादल के रुप में, निश्चित अच्छे घने बादल का, अपने निश्चित अच्छी दूरी में से, पास में आने से हुई ध्वनि को ही बादल गरजना कहा जाता है। इन दोनों के पास में आने से धरती के संयोजन के साथ, धरती का संबंध जुड़ने के साथ, विद्युत प्रवाह अपने आप दौड़ता है, जिसका प्रवाह जीव, जानवर, मानव, पेड़, पौधे के ऊपर देखा गया। यही प्राकृतिक रुप में देखा हुआ, बिजली प्रकाश और प्रभाव है। बिजली प्रकाश राहगीर को राह देखने के रुप में तो दिखी लेकिन प्रवाह का और कोई सकारात्मक पक्ष में प्रयोग नहीं हुआ। इन दोनों स्थिति को देखा हुआ मानव यह क्या है? कैसा है? बहुत कुछ सोचा, समझा। अन्ततोगत्वा चुम्बकीय धारा का विखंडन विधि से, जिसको डायनामो कहा जाता है, साइकिल के चक्के के साथ घुमा कर प्रकाश को प्राप्त किया। इसके बाद क्रम से धरती पर सभी जगह तक बिजली प्रवाह को दौड़ता हुआ, कार्य करता हुआ, सब प्रदर्शित है।

- विद्युत धारा में घोषित विश्लेषण दो मुद्दों पर हैं।

    1. विद्युत धारा का स्रोत और

    2. धारा, प्रवाह में होने वाली क्रिया कलाप

विद्युत प्रवाह के मूल में चुम्बकीय धारा के विखंडन के बराबर में विद्युत धारा होना, विद्युत धारा चुम्बकीयता से मुक्त न होना, फलतः चुम्बकीय विद्युत धारा का नामकरण होना सार्थक पाया जाता है। इसमें धारा के साथ परमाणु अंश दौड़ती रहती है। ऐसी परिकल्पना दी गई। वास्तविकता रुप में यदि परीक्षण करने के लिए तत्पर हो जाये तो हम यह पाते हैं हर माध्यम में स्वभाव गति के रुप में जो अणुओं का संकोचन प्रसारण बना रहता है, विद्युत प्रवाह के माध्यम होने की स्थिति में वह संकोचन प्रसारण बढ़ जाता है। संकोचन प्रसारण विधि से ही प्रवाह और दबाव बनी रहती है। संकोचन विधि से दबाव , प्रसारण विधि से प्रवाह होता हुआ देखने को मिलता है। इसी क्रम में दौड़ता हुआ विद्युत प्रवाह अपने निकटवर्ती वातावरण में जितने भी विरल वस्तुयें रहते हैं उन पर अपना प्रभाव प्रसारित करता है फलस्वरुप विद्युत धारा के साथ-साथ उसका प्रभाव क्षेत्र बना रहता है। इस प्रभावी क्षेत्र को अत्यल्प दबाव प्रवाह रुप में भी देखा जा सकता है, सर्वाधिक दबाव प्रवाह के साथ भी देखा जा सकता है।

विद्युत प्रवाह अपने में नियंत्रण के सीमा में कोई हानिप्रद वस्तु नहीं है। न ही यह स्वयं में प्रदूषण युक्त कोई ऊर्जा है। यह विद्युत ऊर्जा अपने में प्रदूषण मुक्त ही है। इसके उपयोग से प्रदूषण पैदा करे या न करे, यह मानव विवेक पर निर्भर है। इस पर अच्छी तरह से अपने को संयत बना लेना सहज सुलभ है। दूसरी ओर इसकी अर्थात् विद्युत ऊर्जा की, विद्युत की उपलब्धि में प्रवृत्त होने की जो आवश्यकता है, यह प्रदूषण मुक्त होना तभी संभव है जब धरती की संतुलित ताप को वरीय बिन्दु के रुप में हम देख पाते हैं। आज इसी दृष्टि की आवश्यकता है। दृष्टि का स्वरुप, मानसिकता ज्ञान, विवेक, विज्ञान के रुप में सार्थक कार्य करता हुआ देखने को मिलता है।

सह-अस्तित्ववादी ज्ञान, विवेक, विज्ञान विधि से हम धरती और मानव के सह अस्तित्व को ध्यान में ला सकते हैं। मानव और धरती का सहअस्तित्व समझ में आने की

स्थिति में धरती का स्वास्थ्य वरीय स्थिति में आना, प्रदूषण मुक्ति का उद्देश्य वरीय स्थिति में आना, एक स्वाभाविक प्रक्रिया रहेगी। विकल्प पहले से ही स्पष्ट है। थोड़ा सा ध्यान देने की आवश्यकता है।

जल प्रवाह बल को हम उपयोग करें न करें, प्रवाह तो हर देश काल में बना ही रहता है। ऋतु संतुलन की सटीकता, इन नदियों के अविरल धारा का स्रोत होना ही समझदार मानव को स्वीकार होता है। इसी के साथ वन, खनिज का अनुपात धरती पर कितना होना चाहिए, इसका भी ध्यान सुस्पष्ट होता है। इसमें ध्यान देने का बिन्दु यही है कि हर देश में विभिन्न स्थितियाँ बनी हुई हैं। हर विभिन्नता में वहाँ का ऋतु संतुलन अपने आप में सुस्पष्ट रहता ही है।

विकल्प विधियों में अर्थात् प्रदूषण मुक्त विधि से हम विद्युत को जितना पा रहे हैं, उससे अधिक प्राप्त कर लेना आवश्यक है, ऐसे विद्युत से सड़क में चलने वाली जितनी भी गाड़ियाँ हैं, उसके लिए बैटरी विधि से विद्युत को संजो लेने की आवश्यकता है। जिससे छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी गाड़ी चल सके। उसकी उपलब्धि जैसा खनिज तेल उपलब्ध होता है, ऐसा हो सकता है। इसे हर समझदार व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। जहाँ तक खेत में चलने वाली गाड़ी, हवा में चलने वाली गाड़ी की बात है, उसके लिए वनस्पति तेल को योग्य बनाकर उपयोग करेंगे। जल पर चलने वाले जहाजों के लिए वनस्पति तेल अथवा सूर्य ऊर्जा और बैट्री विधि तीनों को अपनाये रखेंगे। इस क्रम में मानव का मन सज जाये, मानव एक बार ताकत लगाये तो प्रौद्योगिकी संसार अर्थात् प्रवाह बल के साथ जूझते मानव जाति से प्रकृति के साथ होने वाले पाप कर्म, अपराध कर्म रुक सकते हैं।

नियति विधि से मानव का प्रकटन, वनस्पति और जीव संसार का प्रकटन होने के बाद हम स्वीकार कर चुके हैं। समझ भी चुके हैं। इसके बावजूद नियति के साथ अपराध में जुड़ गये, इससे छूटना आवश्यक है। जल प्रवाह एवं सूर्य उष्मा, उक्त दोनों स्रोत पर विचार करें तो यह पता चलता है कि मानव प्रयोग करे, ना करे, प्रवाह रहता ही है। सूर्य उष्मा हर समय धरती को छुआ ही रहता है। इसको भले प्रकार से हम समझ सकते हैं। अपने ज्ञान, विवेक, विज्ञान पूर्वक प्रयोग और प्रौद्योगिकी विधि को अपना सकते हैं। तब विद्युत स्रोत, जितना चाहिए मानव को उससे भी कई गुना, हमारे पास उपलब्ध रहना संभावित है।

हर मानव ऊर्जा स्रोत से धनी रहने की इच्छा रखता है। समझदार मानव उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजन सुनिश्चित करने के अर्थ में जीना बना ही रहता है। इससे मानव मानव से विश्वास करने का आधार भी संभावित है। मानव के साथ परस्पर विश्वास विधि से ही उक्त दोनों प्रकार के स्रोत उपयोग कर सकते हैं। इससे ही धरती में मानव, इन नियति विरोधी, मानव विरोधी, प्रकृति विरोधी कार्यक्रम से मुक्त हो सकता है। विरोध के स्थान पर परस्पर पूरक, उपयोगी, सहकारी होना प्रमाणित होता है।

ऊर्जा क्रियाकलाप के मूल में चुम्बकीय बल संपन्नता का जिक्र प्रयोग हो चुका है। ऐसी चुम्बकीय बल संपन्नता कहाँ से, कैसे? इस मुद्दे पर प्रश्न अध्ययन करने में तत्पर प्रत्येक मानव में होना स्वाभाविक है। इस मुद्दे में यह स्पष्ट हो चुकी है कि व्यापक वस्तु में सम्पूर्ण एक-एक वस्तुयें डूबा, भीगा, घिरा हुआ है। भीगा रहने के आधार पर ऊर्जा संपन्नता, ऊर्जा संपन्नता ही बल संपन्नता, बल संपन्नता चुम्बकीय बल संपन्नता के रुप में, प्रत्येक इकाई में वर्तमान है। इसके प्रमाण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हर प्रजाति के परमाणु व अणु बंधन, भार, बल संपन्न है।

व्यापक वस्तु संपूर्ण प्रकृति में वस्तु में पारगामी है। इसलिए प्रत्येक वस्तु व्यापक वस्तु में भीगा रहता है। वस्तु अपने में ऊर्जा प्रकाशन करता हुआ गवाहित होने के उपरान्त ही हम मानव, वस्तु के ऊर्जा संपन्न होने का अनुमान होना पाया जाता है। ऐसे अनुमान के अन्तर्गत ही इसका स्रोत क्या है ? इसका उत्तर व्यापक वस्तु में ही संपूर्ण वस्तुयें रहने का ज्ञान होने के उपरान्त यह पता चला कि व्यापक वस्तु ही मूल साम्य ऊर्जा है। ऊर्जा संपन्नता के रुप में प्रत्येक वस्तु चाहे वे अणु हो, परमाणु हो, परमाणु अंश क्यों न हो, ये सब इकाईयाँ ऊर्जा संपन्न रहना, इसकी नित्य क्रियाशीलता से बोध हो गया। इस विधि में प्रत्येक इकाई में ऊर्जा संपन्नता, बल संपन्नता की स्वीकृति स्थिति गति के आधार पर संपन्न हुई। ऐसी ऊर्जा संपन्नता प्रत्येक इकाई के ऐश्वर्य में, वैभव रुप में, चुम्बकीय बल संपन्नता, अणु बंधन, भार बंधन रुप में मानव को समझ में आया। यह संपूर्ण वस्तुयें अपने में संपूर्ण रहते हुए, संपूर्ण के साथ अर्थात् धरती के साथ पूरकता आवश्यकता को प्रमाणित करता हुआ देखने को मिलता है। इस मुद्दे पर भी ठोस, तरल, विरल वस्तुयें अपने-अपने जातीय वस्तु के साथ सहयोग, उपयोगिता को प्रमाणित करने में तत्पर होने के रुप में स्थिति गतियों के रुप में स्पष्ट

किया गया है। इस विधि से धरती के संपूर्ण वैभव के अंगभूत जितने भी कार्य विन्यास है वह सब सहज अभिव्यक्ति के साथ ही हैं। मानव अपने अद्भुत शिल्प, यांत्रिकता के साथ जितने भी विद्युत धारा को उत्पादित करने के लिए, प्रवाहित करने के लिए उपक्रम करते हैं, वह उपक्रम में प्रवाह मिलता भी है। वह प्रवाह अन्ततोगत्वा धरती में ही समा कर सहअस्तित्व को प्रमाणित कर देता है।

धरती के ही अंगभूत द्रव्य के रुप में चुम्बकीय द्रव्यों को पाया जाता है। इनके परस्पर यांत्रिकता वश चुम्बकीय धारा की विद्यमानता, उसके विखंडनवश विद्युत धारा, उसके संपूर्ण प्रयोजन के अनंतर, अथवा उपयोग के अनंतर सम्पूर्ण विद्युत धारा धरती में समाकर पुनः चुम्बकीयता के रुप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रक्रिया का जिक्र यहाँ इसलिए किये हैं कि यह विद्युत प्रवाह एक आवर्तनशील प्रक्रिया है। इसलिए इसको आवश्यकता के रुप में बनाये रखना उचित है। इसकी उपलब्धि के लिए उपक्रम विधि को पुनः संयोजन, शाश्वत स्रोतों से जोड़े जाने की संभावना समीचीन है ही। अतएव इस विधि से हम चुम्बकीयता से विद्युत प्रवाह तथा पुनः चुम्बकीयता तक पहुँच जाते हैं। चुम्बकीयता न घटने, न बढ़ने के रुप में, व्यापक वस्तु में संपृक्त संपूर्ण वस्तु को पहचान कर लेना उचित होगा।

यह तथ्य हमें समझ में आ चुका है कि चुम्बकीयता वस्तु में प्रकट होता है, ऐसे चुम्बकीय द्रव्य को ससम्मुख यांत्रिकीय विधि से निश्चित अच्छी दूरी पर स्थिर करने की स्थिति में इन दोनों की परस्परता में चुम्बकीय धारा बना ही रहता है। चुम्बकीय धारा का मतलब एक दूसरे के साथ मिलने की प्रवृत्ति। इन दोनों वस्तु के बीच कितने भी अणु परमाणु विरल रुप में रहते हैं इन्हें चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र में होना पाया जाता है। इसका विखंडन, इसके विखण्डित क्रम से धारा को, प्रवाह को ग्रहण करते हुए देखने को मिलता है। यही पुनःश्च माध्यम के द्वारा दूर-दूर तक पहुँचता है।

ऐसे विखंडन क्रम में क्या कोई वस्तु द्रव्य बना रहता है कि नहीं, इस मुद्दे पर यही स्पष्ट होता है कि हर अवकाश में कुछ न कुछ संख्या में अणु होते ही हैं। यही अणु चुम्बकीय धारा के प्रवाह क्षेत्र में होना भी स्पष्ट हो चुकी है। विखण्डन क्रम में, इस अवकाश में चुम्बकीय प्रवाह क्षेत्र में आये अणुओं में विद्युत धारा से प्रभावित होना भी स्वभाविक है।

इसी के साथ साथ यह भी अनुमान होता है कि चुम्बकीय प्रभाव और विखण्डन दबाव के साथ इन अणुओं का परमाणु में विघटित होने, अथवा परमाणु विघटित होकर परमाणु अंश के रुप में दौड़ लगाने की भी सम्भावना बनी रहती है (विद्युत प्रवाह के साथ)। यद्यपि प्रवाह के साथ माध्यम पर होने वाला प्रभाव , उसके फलस्वरुप होने वाली क्रिया स्पष्ट होती है। माध्यम पर विद्युत प्रवाह प्रवाहित होते ही उनमें संकोचन प्रसारण बढ़ना हो ही जाता है। इसको हर जिज्ञासु अर्थात् प्रयोग पूर्वक समझने की इच्छा रखने वाला, परीक्षण निरीक्षण कर सकता है।

जितने भी उपक्रम विद्युत प्रवाह के लिए बन चुके हैं, प्रवाहों को नियंत्रित करने, संयत करने, विभाजित करने, उपयोग करने, नापने और सुनिश्चित करने के जितने भी उपकरण बन चुके हैं, पर्याप्त लगते हैं। यदि आगे और कोई आवश्यकता होने की स्थिति में मानव में शोध अनुसंधान प्रवृत्ति है ही। इससे आपूर्ति होना संभावित है। इससे आश्वस्त होते हुए शाश्वत, निरंतर प्राप्त विद्युत निष्पादित यंत्रों को संचालित करने के लिए स्रोतों का अवश्यमेव प्रयोग करना ही हमारा सौभाग्य भविष्य होगा।

आज तक पुरुषार्थी मानव से बैटरी के रूप में जो उपलब्धियाँ हुई हैं उसमें सेल वाली बैटरी और प्लेट वाली बैटरी है। पहले सेल वाली बैटरी में एक कार्बन प्लेट होना पाया जाता है उसके चारों ओर रसायन द्रव्य और जिंक या शीशा का कवच होना पाया जाता है। इसके अंदर जो रसायन द्रव्य रहता है, वह शीशा या जिंक के साथ क्रिया करते हुए अणु के रुप में आवेशित होकर अपने प्रभाव क्षेत्र में विद्युत प्रसारण किया करता है। यह प्रभाव क्षेत्र एक के साथ एक जुड़कर कार्बन के साथ जुड़े रहते हैं। इसीलिए इसमें विद्युत प्रवाह उपलब्ध हो पाता है। इस बैटरी से बल्ब जलते हुए देखते हैं।

दूसरी विधि से प्लेट बैटरी में भी रसायन द्रव्य अम्ल लवण आदि द्रव्य होते ही हैं। अम्ल तो होते ही हैं। इनके संयोग में आये हुए धातुओं में क्रिया सम्पन्न होना स्वभाविक रहती है। इनमें धातु अणुओं को आवेशित करने के लिए प्रवाह को पहुँचाया जाता है यह विद्युत प्रवाह उस बैटरी कवच में स्थापित धातुओं पर प्रभाव डालता है। फलस्वरुप रसायन संयोग से धातुओं के अणु आवेशित होकर विद्युत ग्राही बन जाते हैं इसी को चार्ज कहते हैं। इस क्रम में विद्युत प्रभाव से उत्पन्न प्रभाव परिपूर्ण होने के फलस्वरुप उस बैटरी से प्रकाश आदि क्रिया

में काम लेता हुआ, मानव यान-वाहनों में उपयोग करता हुआ देखने को मिलता है। इसमें से यंत्र संचारण के आरंभ में उसमें विद्युत प्रवाह को प्रयोजित करते हैं। यह सर्व विदित तथ्य है कि इन सब तथ्यों के साथ मानव की जो आज की स्थिति में जो क्षमता है उसके अनुसार ये सब विधियों से विद्युत प्रवाह की निष्पत्ति, उसका नियंत्रण और कार्य विधियों में पारंगत हो चुके हैं। इसलिए इन सभी मुद्दों पर जो तकनीकी विद्या है इसमें उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता तथा प्रकृति का अनानुपाती शोषण न हो इसके सुनिश्चित होने की आवश्यकता नहीं है।

14. देश, दिशा, दूरी, विस्तार आयाम, कोण

हर मानव इन सभी मुद्‌दों को जाँचना चाहते हैं। ज्ञान के लिए, समझने के लिए। दूरी का क्या मतलब है? क्या प्रयोजन है? इस पर हर मानव का ध्यान जाता ही है।

दूरी के मूल में मानव, मानव में समाहित आँख और आँख पर प्रतिबिबिम्बित विभिन्न वस्तुएं परस्परता के बीच स्थित हैं। यह मूलतः स्थिति की स्वरुप हुई। मानव की आँखों में विभिन्न वस्तुएं प्रतिबिम्बित रहती हैं। मानव की भाषा के अनुसार, कुछ चीजें पास में दिखती हैं। कुछ दूरी में दिखती हैं। इसी आधार पर दूर-दूर में सूरज, चाँद, तारे को देखते हैं। पास-पास में धरती, हवा, जल, पहाड़, पौधे, कीड़े-मकोड़े, पशु पक्षी, मानव को देखते हैं। इस प्रकार से मानव के आँखों पर वस्तुएं सदा-सदा प्रतिबिम्बित रहती ही हैं। हम देख पायें तभी भी रहते हैं, न देख पायें तब भी रहते हैं। इन्हीं तथ्य के आधार पर दूरी और माप की व्याख्या दूसरों को समझाना भी चाहते हैं। स्वयं समझना भी चाहते हैं। दूर में हो, पास में हो, हर इकाई व्यापक वस्तु में ही समायी रहती है। समाये रहते हुए भी पास और दूर हमको दिखाई पड़ते हैं। इस विधि से दूरी का मतलब यह हुआ, सत्ता में डूबी हुई स्थिति का हम अनुभव करते हैं। इस आधार पर दूरी को नापने का तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हम एक दूसरे के बीच में व्यापक वस्तु को ही नाप के रुप में पाते हैं। यह दो विधि से सम्पन्न हो पाता है। जैसा दूर-दूर में सूरज, चाँद, तारे को देखते हैं। इन्हीं दूरी को धरती पर दो ध्रुवों को अथवा दो शंकुओं को स्थापित कर इन दोनों के मिलन बिन्दु के रुप में सूरज, चाँद, तारे को एक लक्ष्य बना कर इन दोनों के विभिन्न कोणों के आधार पर, इन दोनों के मिलन बिन्दु के आधार पर दूरी का पता लगा देते हैं। इसका नाम है अज्ञात दूरी को ज्ञात करना। दूसरा विधि है, ज्ञात दूरी की ज्ञात करना। ऐसा घटना किसी भी रचना पर ही होना पाया जाता है। रचना ज्ञात रहता है। दूरी अज्ञात रहता है। जैसे धरती में एक किलोमीटर, दो किलोमीटर आदि अनेक प्रकार के हम नाप किया करते हैं। यह धरती स्वयं में एक रचना है। किसी एक शंकु में अथवा ध्रुव बिन्दु से नाप शुरु करते हैं, जिसकी दूरी नापना है, वहाँ तक नाप लेते हैं। यह दूरी ज्ञात थी, उसको नाप लिया। नापने की क्रिया का हमको बोध होता है। जिसको नापा, इसका भी बोध होता है। अब नाप क्या चीज है। इसका भी बोध होना आवश्यक है।

भौतिक तुला में छोटी वस्तुओं को तौलने की जब मानव को आवश्यकता हुई, तब, भौतिक तुला के सूक्ष्मतम तौल को निश्चित बिन्दु मानकर उसके दशांश, शतांश के आधार पर विखण्डन विधि को, गणितीय विधि से, अपनाया। इसी क्रम में आगे बढ़ कर इलेक्ट्रानिकी, प्रौद्योगिकी विधि से एक-एक वर्ग इंच में लाखों विभाजन, लाखों में वर्ग को विभाजित कर संख्या करण कर लिया। इसके उपयोग को इलेक्ट्रानिक रिकार्डर के रुप में प्रयोग किया ही जा रहा है। आगे-आगे पीढ़ी के लिए प्रयोग करने के लिए ये सब उपलब्ध हैं। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई को मापने के क्रम में नापने वाला वस्तु किसी न किसी धातु अथवा लकड़ी से बनी रहती है। ऐसी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई अथवा सभी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई व्यापक में समायी हुई है, यह तथ्य हमें विदित है। एक वस्तु दूसरे वस्तु के बीच में जो कुछ मापते हैं, ध्रुव से ध्रुव के बीच में व्यापकता को ही मापे रहते हैं। इन दोनों के बीच दूरी को उसकी निश्चित दूरी मान लेते हैं, संख्याकरण कर लेते हैं। स्पष्ट भरोसा रखते हैं। यह ध्यान में लाने का मतलब यही है कि हम कुछ भी मापेंगे दूरी के रुप में, परस्परता के बीच व्यापक वस्तु ही है। इस प्रकार के सभी मापदण्ड के स्वरुप में व्यापक वस्तु को माप कर एक-एक वस्तु माप लिया ऐसा मानते हैं। जैसा लम्बाई, वैसा ही चौड़ाई, वैसा ही ऊँचाई है। जिसमें ही सारी इकाई आती है। जैसा यह धरती व्यापक वस्तु में डूबे, घिरे, भीगे रहने के आधार पर वस्तु के नाम पर वस्तु में ही हर वस्तु को ही मापे रहते हैं। सहअस्तित्व परम सत्य होने के कारण माप का प्रयोजन, प्रक्रिया सफल हो जाता है। इसी क्रम में तौल का कार्य भी सफल हो जाता है। विखण्डन प्रणाली भी मापदण्ड के आधार पर सफल होती है। मानव सौभाग्यशाली होने के आधार पर ही अर्थात् संयमशीलता पूर्वक जीने के आधार पर ही मानव सूक्ष्मतम संकेत से स्थूलतम संकेत तक के लिए, घटाने बढ़ाने के मापदण्डों को करतल गत कर चुके हैं। इस प्रकार मापदण्ड अंततः स्वयं में किसी वस्तु का अथवा गति, दबाव, तरंग, शब्दों का सूक्ष्मतम, स्थूलतम गति, दबाव को बढ़ाने-घटाने के रुप में पहचानने की विधियाँ हैं। ये ज्यादातर दूर संचार के लिए अनूकूल हुआ है।

विस्तार

(विस्तार अपने में रचना की अवधि के बराबर होता है।) कोई रचना, इकाई जितने लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई में फैली हुई है, वह उसका विस्तार है। रचना के मूल में यह तथ्य हमें

विदित हो गया है कि परमाणु से अणु, अणुओं से अणु रचनाएं, छोटे, बड़े होने की बात स्पष्ट हो चुकी है। यह धरती जैसी अनेक धरती भी अणुओं से रचित रचनाएँ हैं। कई अन्य ग्रह गोल में भी इस धरती की तरह ठोस, तरल, विरल वस्तुयें हो सकती है। अनेक तरह के ग्रह, गोल हमारे आँखों के सम्मुख प्रतिबिम्बिति रहते ही हैं। हम यह भी जानते हैं, दूर-दूर में बहुत सारी धरतीयाँ हो सकती हैं। इस धरती के संबंध में भी कोने-कोने को पहचानने के लिए प्रयत्न हुआ। अन्य धरतीयों को पहचानने की इच्छा मानव में रहती ही है। इसके लिए प्रौद्योगिकी विधि से प्रयास काफी वर्षो से किया जा रहा है। यह सब अपने गति से प्रयासों के अनुपात से सम्भव होता ही रहेगा। मुख्य मुद्दा इस धरती पर मानव, परस्पर विश्वास के साथ पर रहने का है।

अपने विश्वास पर जीने के लिए पहले समझ चुके हैं - स्वयं में विश्वास होना है। श्रेष्ठता का सम्मान करने में, व्यक्तित्व की कसौटी में, प्रतिभा को प्रमाणित करने में, व्यवहार में सामाजिक होने, व्यवसाय में स्वावलम्बी होने से है। विश्वास प्रतिष्ठा हर मानव चाहता है। स्वयं में विश्वास का मतलब इतने में सार्थक होना पाया जाता है। तभी इस धरती पर सदा-सदा के लिए मानव परंपरा आश्वस्त होना बनता है।

इस धरती का विस्तार अपने में निश्चित हो चुका है। मानव के मापदण्ड से भी। धरती का स्थल अपने में स्वयं सिद्ध है। यह धरती, विभिन्न प्रजातियों के अणुओं का सह-अस्तित्व पूर्ण रचना स्पष्ट है। इस पर स्वयं में रासायनिक संरचनायें भी प्रकट होकर मानव शरीर पर्यन्त प्रमाणित हो चुकी हैं। मानव, शरीर और जीवन के संयुक्त रुप में, पूरी धरती, अनेक ग्रह गोल, ब्रहमाण्डीय किरणों तक का अध्ययन करने का अधिकारी है। इन सब का उपकार मानव को उपलब्ध हो चुका है। इसी के साथ, मानव का अध्ययन मानव के लिए अधूरा ही रहा। इसी की आपूर्ति आवश्यक रही। इसके लिए समुचित विधि ज्ञान, विवेक, विज्ञान रुप में स्पष्ट हुई। इस क्रम में रचना के फैलाव को विस्तार के रुप में हम समझने लगे हैं। इस विस्तार को माप दण्डों के आधार पर संख्याकरण भी कर लिया। मील, किलोमीटर आदि संज्ञा से इस धरती के विस्तार मानव के लिए पर्याप्त सामग्री सहित प्रस्तुत है ही। इसी धरती के विस्तार के ऊपरी हिस्से में अटूट ऐश्वर्य प्रस्तुत है ही। सबसे प्रमुख ऐश्वर्य जंगल है। इन सबको बनाये रखने के लिए, ऋतु संतुलन की आवश्यकता पर ध्यान गया, जिसे पहले

स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए धरती के विस्तार को समझते हुए, ऋतु संतुलन को बनाये रखने के लिए निष्ठा, प्रवृत्ति, सक्रियता आवश्यक है।

देश

इस विस्तार को ही हम देश के नाम से जानते हैं। प्रचलित विधि से, अनेक देशों का नाम पहचाना गया है। यदि हम पूरे ईमानदारी से सोचें तो किसी भी एक रचना का विस्तार ही देश होता है। जैसे, यह धरती अपने में एक निश्चित विस्तार संपन्न है ही। धरती स्वयं में, न तो विभाजित है, न विखण्डित है। इस धरती की अखण्डता अपने आप में सबको विदित है। इसके बावजूद अनेक देश, राज्य के नाम पर इसे विभाजित करने का प्रयत्न रहा है। इस धरती का अखण्ड होना, स्वयं में इस धरती पर मानव अपने को अखण्ड समाज के रुप में पहचानने का प्रेरणा भी है। मानव अपने अखण्डता को पहचानने के उपरान्त ही, इस धरती पर मानव के सुरक्षित होने की संभावना उदय होती है। मानव विखण्डित रहते तक धरती के क्षति ग्रस्त होते रहने की संभावना बनी है। अतएव धरती अपने में एक रचना होते हुए, इसी रचना में अविभाज्य रुप में विद्यमान सभी इकाईयाँ, धरती की अखण्डता के साथ जुड़े ही हैं। इसी प्रकार हर रचना, हर धरती की रचना अपने आप में इकाई संपूर्ण है। ऐसे अखण्ड धरती के उदाहरण के रुप में इस धरती को पहचान सकते हैं। धरती पर चारों अवस्था प्रमाणित हो जाय, विकसित धरती का अथवा विकासशील धरती का तात्पर्य यही है। इसी आधार पर इस धरती की रचना और उसकी महिमा, मानव को बोध होता है। अखण्डता विधि से मानव में, से, के लिए अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था अध्ययन व प्रमाणित करने की व्यवस्था मानव के लिए सुलभ हो गयी है।

इस धरती पर हर वनस्पति, जीव और मानव एक-एक रचना है। ये सब धरती के साथ ही वैभव हैं। ये सभी रचना की एक-एक अवधि हैं। हर धरती, पेड़, पौधे, जीव जानवर, मानव अवधि गत रचना के रुप में प्रमाण हैं। ये सब अपने-अपने अवधि के आधार पर अवधियों को प्रमाणित कर रहे हैं। जैसे धरती का लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई को मापा जाता है। वैसे ही मानव की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई को मापा जाता है। इसी क्रम में पेड़, पौधे, पत्थर, मणि, धातु भी अपने-अपने ढंग की रचना होना, उसका माप तौल के साथ पहचान होना पाया जाता है। इस विधि से रचना की महिमा, रचना के साथ उसकी अवधि, इनमें

परस्पर पूरकता और उपयोगिता अपने आप स्पष्ट होती रहती है।

रचना के आधार पर ही विरचना और पुनः रचना की बात स्पष्ट होती है। धरती अपने में रचना, इसकी निरंतरता के अर्थ में, विकास क्रम में विकास को स्पष्ट करने और जागृति को स्पष्ट करने के अर्थ में विद्यमान है। क्योंकि, इस धरती पर चारों अवस्थायें प्रमाणित हो चुकी हैं। धरती अपनी रचना तक सीमित रहती है। इस धरती पर सभी अवस्था और पद प्रमाणित हो चुकी है, शून्याकर्षण में वर्तमान हो चुकी हैं। इस आधार पर रचना अगर सम्पूर्ण वैभव संपन्न होता है, तब ये चारों अवस्थायें प्रकट हुआ करते हैं। चारों अवस्थाओं सहित इस धरती की महिमा और गरिमा सुस्पष्ट हो चुकी है। जैसे, धरती पर चारों अवस्थायें नहीं होते, तब मानव भी नहीं होता। मानव, होने के पश्चात् ही, भ्रमवश धरती विरोधी कार्य किया है। वहीं जागृति पूर्वक इस धरती के अनुकूल अर्थात् विकास और जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में मानव अपने को व्यवस्थित कर लेना, प्रमाणित कर लेना, कार्य व्यवहार को स्पष्ट कर लेना आवश्यक व समीचीन है।

दिशा और दृष्टि

दिशा के संबंध में मानव सूर्य के सम्मुख खड़े हो कर आगे, पीछे, दाहिने, बायें के रुप में दिशा को पहचानना प्रचलित है। इसे नाम भी दिया जा चुका है- पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, यह भी प्रचलित है। इसके बाद दिशा के मूल उद्गमन और प्रयोजन के बारे में सोचना एक स्वभाविक क्रिया रही। हर मुद्दा सह-अस्तित्व में, से, के लिए ही निर्धारित होना पाया जाता है। इस प्रकार दिशा भी सहअस्तित्व के अर्थ में ही निर्धारित होना स्वभाविक है। सह-अस्तित्व में पूरकता, उपयोगिता विधि समाया ही रहता है। इस क्रम में दिशा को पहचानने के लिए किसी एक को ध्रुव रुप में पहचानना आवश्यक है। जैसा मानव को धरती के साथ हम ध्रुव रुप में पहचानते हैं। एक बिन्दु अनेक अंशों का केन्द्र बना जाता है। केन्द्र से कुछ दूरी पर दो अंशों को सरल रेखा से जोड़ने पर कोण बन जाता है। इस विधि से प्रत्येक एक अनन्त कोण संपन्न होना समझ में आता है अंशों का संयोजन विधि से ही कोण होना स्पष्ट होता है।

उक्त प्रकार से हर वस्तु एक केन्द्र बिन्दु, हर केन्द्र बिन्दु में अनन्त अंश जुड़े रहते हैं

। जैसा पहले 45 अंश को एक जुट में दूर-दूर तक फैलाने से एक वस्तु के सभी ओर 8 दिशा हो जाती हैं। इसी प्रकार 90 अंश के विभाजन विधि से 4 दिशा बन जाती है, 180 के विभाजन करने पर 2 दिशा बन जाती है। इस प्रकार दिशा निर्धारण करने के लिए एक वस्तुयें अनेक अंशों के केन्द्र होने की विधि से समझ में आता है। दूसरी विधि यही है, एक वस्तु के सामने दूसरी वस्तु, धरती के सामने सूरज के बारे में पहले से ही हम जानते हैं। इन दोनों विधा से कोण (किसी केन्द्र के) अंशों के आधार पर स्पष्ट होता है। क्योंकि सूरज भी चांद भी अनन्त अंश का ही केन्द्र है। जब कभी सूरज के आधार पर दिशा निर्धारित होगी, सूरज के 90 अंश अथवा 180 अंश पर होगी। 90 अंश दिशा को पहचानने वाले के आधार पर बनता है 180 अंश दिखने के आधार पर बनता है।

देखने वाले के रुप में मानव को हम पहचान चुके हैं। मानव दृष्टि को जिस ओर दौड़ता है, वह दोनों आँखों के साथ 90 अंश ही बनता है, इसी का नाम दृष्टि पाट है। 90 अंश का शुरुआत बिन्दु में है। यह बिन्दु ठीक दोनों आँखों के पीछे, दोनों चक्षुओं के स्नायु जुड़ने वाली जगह पर ही होती है, यह मेधस तंत्र में ही स्थापित रहता है, भौतिक रासायनिक तंत्र के रुप में स्थापित रहता है। चक्षु तंत्र अपने में रासायनिक रचना तंत्र और जीवंतता सहित मानसिकता के साथ क्रियाशील रहता है। इसका मतलब यह हुआ कि मानव (जीवन) की उपस्थिति में ही दिशा, काल आदि बोध होने की बात किया जा सकता है। यांत्रिक विधि से भी यदि हम दिशा, काल संबंधी क्रिया करते हैं, तो उसमें भी पहले कही हुई सभी क्रियायें मानव से संबंधित रहते ही हैं। अतएव यंत्र प्रमाण के मूल में मानव ही प्रमाण है। स्वयं प्रमाण के मूल में भी मानव ही है, क्योंकि मानव ही प्रमाणित करने वाली इकाई है। किताब प्रमाण के मूल में भी मानव ही प्रमाण है। इस प्रकार मानव का प्रमाण विधि को समझने के क्रम में मानव चक्षु तंत्र को समझना भी आवश्यक रहता है।

दृष्टि पाट अपने में से हर मानव के चक्षु तंत्र में 90 अंश का विस्तार बनाती है। इसी क्रम में दृष्टि पाट में आने वाली सभी वस्तु निश्चित अच्छी दूरी में रहने पर उसका विस्तार चक्षु तंत्र द्वारा बोध हो पाता है। बोध होने की क्रिया जीवन में ही होती है। चक्षु तंत्र द्वारा भी मानव जीवन और शरीर का अविभाज्य रुप होने के आधार पर समझ में आता है। ऐसी वैभव संपन्नता एक आवश्यक प्रक्रिया है। यह हर मानव में शोध पूर्वक पहचाना जा सकता है अपने

में भी, अन्य में भी ।

दिशा, देश को पहचानने के लिए दृष्टि संपन्नता का होना एक अनिवार्य स्थिति है । इसके बिना दिशा निश्चयन, पहचान और उपयोगिता का प्रमाण संभव नहीं है । इसमें प्रधानतः दृष्टि के संदर्भ में, दृश्य को पहचानने के संदर्भ में, इन पहचानने के आधार पर उपयोगिता, पूरकता, प्रयोजन को प्रमाणित करने के संदर्भ में, मानव ही एक मात्र समर्थ इकाई है। मानव को दिशा को निर्धारित कर लेने की आवश्यकता इस धरती पर है। धरती से बाहर विद्यमान ग्रह गोल से भी वास्ता है। इस क्रम में आकाश में गतित होने के लिए भी दिशा निर्धारण एक आवश्यक स्थिति है। जल यात्रा में भी आवश्यक है। धरती पर गाँव से गाँव जाने के लिए दिशा निर्धारण अतिआवश्यक है । जागृतिक्रम, जागृति को पहचानने के लिए भी निश्चित दिशा चाहिए। इस प्रकार मानव की प्रवृत्तियाँ बहु आयामी होने के आधार पर, बहु कोणीय होने के आधार पर, दिशा निर्धारण होने के आधार पर ही कार्य निर्धारण होना पाया जाता है।

भूचर, जलचर, नभचर विधि से हमें जहाँ गतित होना है, उसके लिए गम्य स्थली को निर्धारित करने की आवश्यक रहती ही है। ऐसे निर्धारण के उपरान्त ही निश्चित लक्ष्य, गम्य स्थली के लिए निश्चित दिशा विधि से ही पहुँच पाते हैं। इसे हर व्यक्ति, छोटे से छोटे, बड़े से बड़े मुद्दे पर परीक्षण कर सकता है।

इसके आगे यह भी सुस्पष्ट हो गया कि दृष्टि के बिना दिशा अपने में निर्धारित होती ही नहीं। दृष्टि के साथ ही दिशा निर्धारण हो पाता है। दृष्टि का केन्द्र मानव ही है। मानव में ही समझने की दृष्टि समाहित रहती है। चक्षु तंत्र के साथ ज्ञान तंत्र सोच, विचार, साक्षात्कार, चित्रण सहित बोध, अनुभव क्रियायें मानव में संपन्न होती हैं। इसके लिए मानव में जीवन और शरीर के सह-अस्तित्व को पहचाने रहना आवश्यक है। इस मुद्दे पर पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है।

दृष्टि मानव में सह-अस्तित्व विधि से ही सभी आयाम, कोण, परिप्रेक्ष्यों में सार्थक होना स्पष्ट है। इसीलिए दृष्टि पूर्वक ही लक्ष्य, दिशा निर्धारण होना समझ में आता है।

कोण

कोण के संदर्भ में, किसी एक इकाई को एक केन्द्र बिन्दु के रुप में पहचानने के उपरान्त बिन्दु में अनेकानेक अंश समाया हुआ सुस्पष्ट हो चुका है। कितने भी अंशों की हम परिकल्पना कर सकते हैं, उससे अधिक अंश एक बिन्दु में जुड़ा ही रहता है। ऐसे जुड़ी हुई निश्चित बिन्दु पर समानान्तर रेखा (आधार रेखा) को जोड़ने वाली लक्ष्य रेखा को स्थापित करने पर कोण स्पष्ट हो पाते हैं। हर दो अंशों को जोड़ने पर निश्चित अंशों का कोण बन ही जाता है। इस प्रकार हरेक में एक से अनन्त कोण समाया ही है। सीधा, समकेन्द्रीय रेखाओं के आधार पर ही अंशों का पहचान होता है। समकेन्द्रीय रेखा का मतलब एक बिन्दु से जुड़ी हुई सभी ओर फैली हुई रेखा है, इसको अंश विभाजन रेखा के नाम से पहचाना गया है। इसी विधि से समकेन्द्रीय रेखा, एक बिन्दु में बहुत सारा जुड़ा हुआ, चित्र को हम हर व्यक्ति बना सकते हैं। ऐसे परस्पर रेखाओं की जैसे-जैसे केन्द्र से दूरी बढ़ती है, वैसे-वैसे परस्पर रेखा की दूरी भी बढ़ती जाती है। इसी क्रम में दृष्टि पाट की पहचान हो जाती है। स्पष्ट भी होती है, स्वीकार भी होती है। अंश, कोण, विस्तार, दूरी ये सब मानव दृष्टि के गम्य तथ्य है ? इसीलिए मानव की दृष्टि को आधार में रखते हुए, हर तथ्यों को पहचानने की विधि बनती है। इसी प्रकार दूसरे विधि से किसी समतल रचना पर दो ध्रुवों को पहचानने के अनंतर, इसी समझ के आधार पर तीन ध्रुवों को पहचानने के अनंतर, ध्रुवों को ध्रुवों से जोड़ने पर कोणों का पहचान होती है। हर कोण किसी न किसी निश्चित संख्यात्मक अंशों का चित्र होना पाया जाता है। इस प्रकार दिशा और कोण दोनों स्पष्ट होते हैं। इसी के साथ दूरी भी स्पष्ट होती है।

आयाम

हम आयाम संबंधी भाषा प्रयोग करते ही आये हैं। कोई भी एक वस्तु छः ओर से सीमित होते हुए, तीन आयाम की ही बात करते हैं। इसमें भी मानव की दृष्टि ही प्रधान आधार है। किसी भी वस्तु के छः ओर मानव के आखों में प्रतिबिम्बित होने के लिए कम से कम तीन प्रकार (ओर) से देखने की आवश्यकता बनी रहती है। इसी को हम तीन आयाम कहते हैं। इकाई अपने स्वरुप में व्यापक वस्तु में भीगी, डूबी, घिरी है। व्यापक वस्तु पारदर्शी होने के आधार पर मानव के दृष्टि पाट में वस्तु का अवस्थिति, परिस्थिति और वस्तुओं का

प्रतिबिम्ब चक्षु में होने को दृग बिन्दुओं के रुप में देखा जा रहा है। दृग बिन्दु के रुप में प्रतिबिम्बित होने वाली वस्तुयें अपने संपूर्ण आकार आयतन का 180 अंश तक मानव के चक्षु पर प्रतिबिम्बित हो सकते हैं, इससे ज्यादा नहीं हो पाते हैं। चक्षु पर प्रतिबिम्बित होने वाली सभी वस्तुएं,अपने में से आंशिकता को ही प्रतिबिम्ब रुप में होना, परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक कर सकता है। इसे हर मानव प्रयोग कर सकता है। प्रयोग के लिए विविध वस्तुयें मानव के सम्मुख रखा ही है। इसमें एक मानव, मानव के सम्मुख खड़े होकर देखने पर लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और बनावट संबंधी, निश्चित अच्छी दूरी से देखने पर, 180 अंश अर्थात् मानव रुपी वस्तु का आधा भाग ही दिखता है। बाकी आधा भाग ओझिल ही रहता है। इस प्रकार आँखों से जो दिखता है, वह अधूरा है। आँखों से देखकर केवल उसके आधार पर जो निर्णय करते हैं, वह भी अधूरा है। इस पर आधारित जितने भी कार्यक्रम हैं, उनका भी अधूरा होना स्वभाविक है। मानव अपने तृप्ति पाने के क्रम में अधूरापन को स्वीकारता नहीं। इस मुद्दे पर पहले ही सामान्य रुप में स्पष्ट किया जा चुका है कि गणित आँखों से अधिक, समझ से कम है। अर्थात् गणित भाषा से जो बोध होता है, वह आँखों से अधिक होता है, जबकि आँखों के आधार पर भी बोध होने की बात समझ में आता है, अथवा चित्रित होने की बात आती है। चित्र भी नजर के आधार पर सोच-विचार बना रहता है, वह भी अधूरा रहता है। चित्र में आकार आयतन का 180 अंश ही दिख पाता है। नजरों में भी 180 अंश ही समा पाता है। जबकि गणितीय भाषा से जो बोध होता है, वह आकार, आयतन का पूरा बोध कराता है। आँखों में घन का कोई प्रतिबिंबन होता ही नहीं समझ में आता है। इसके आगे यह भी स्पष्ट किया है कि गणितीय विधि से जो कुछ भी हमको समझ में आता है, उससे अधिक गुणात्मक और कारण भाषा से समझ में आता है। क्योंकि हर वस्तु की संपूर्णता रुप, गुण, स्वभाव, धर्म का समुच्चय है। रुप, गुण, स्वभाव, धर्म संबंधी व्याख्या पहले किया जा चुका है। मानव में, से, के लिए हर वस्तु का बोध रुप, गुण, स्वभाव, धर्म के साथ ही संपूर्ण बोध और तृप्ति का कारण बन पाता है। इनमें से कोई भाग ओझिल रहने से मानव को तृप्ति होना संभव नहीं है। सम्पूर्ण समझ के आधार पर लिया गया निर्णय और कार्य व्यवहार समाधान कारक होगा। यह बात समझ में आती है। समस्या को मानव स्वीकारता नहीं। समाधान को स्वीकारता है। हर दिशा, कोण, आयाम में संपूर्णता के आधार पर लिये गये निर्णयों के साथ समाधान निंगमित होता है। इसे भले प्रकार से हर मानव

जाँच सकता है।

उक्त प्रकार से आँखों के आधार पर निर्भर होकर जितने भी प्रयोग, निर्णय मानव जाति ने किया है, वह सब परिणामतः अनगिनत समस्या का स्वरुप हो चुका है। यंत्र प्रमाण, आँखों से अधिक हो नहीं सकता। यही सबसे बड़ा प्रमाण है। विज्ञान की चेष्टा आँख को प्रयोग करना, आँखों को और ज्यादा सूक्ष्मतम रुप में देखने के लिए औजारों को बना लेना, कर्माभ्यास में आ चुका है। अर्थात् पावरफुल लैंस, लाखों-करोड़ों गुणा बड़ा दिखाने वाला, अरबों-खरबों गुणा दिखाने के लिए इलेक्ट्रानिक लैंस भी प्रयोग में आ चुकी है। इन सबके उपरान्त भी आँख में जो होता है, आँख को अरबों गुणा कारगर बना ले, अर्थ उतना ही निकलता है। इसीलिए ज्ञान, विज्ञान, विवेक संयुक्त विधि से सहअस्तित्ववादी नजरिया से संपूर्ण को पहचानना कारण, गुण, गणितात्मक भाषा से संप्रेषित हो पाना, बोध हो पाना, फलस्वरुप मानवाकाँक्षा, जीवनाकाँक्षा रुपी लक्ष्य को पाना ही एक मात्र आवश्यकता है। इस पर तुलने के लिए दिशा और दृष्टि बहुत आवश्यकीय क्रिया है। दिशा को हम इस प्रकार से समझे-भौगोलिक विधियों से दिशा को हम जानते ही हैं, खगोलीय विधि से भी दिशा को जानते हैं। अब इसके साथ और दो भाग जो ओझिल हैं- विकास की दिशा और जागृति के लिए दिशा की पहचान होने की आवश्यकता है। विकास के लिए दिशा रासायनिक, भौतिक और जीव संसार के साथ पूरकता और उपयोगिता विधि से अपने कार्य व्यवहार अर्थात् मानव अपने कार्य व्यवहार को निर्णीत करना ही और आचरण में लाना ही, फल परिणाम को पाना ही, विकास की दिशा का मतलब है। जागृति दिशा का तात्पर्य भी यही है कि समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, भागीदारी पूर्वक मानव में संगीत को, सामरस्यता को प्रमाणित करना, जीवनाकाँक्षा और मानवाकाँक्षा को प्रमाणित करना है। इन दोनों मुद्दों पर मानव को सफल होने की आवश्यकता है। इसके लिए सहअस्तित्ववादी नजरिया ही नित्य समाधान है।

मानव संतुष्टि की नजरिये से रुप, गुण, स्वभाव, धर्म रुपी आयामों को स्पष्टता से हृदयंगम करने के उपरान्त ही हर मानव विकास और जागृति के संदर्भ में समाधानात्मक निर्णय संपन्न होना, फलस्वरुप जागृति और विकास की दिशा में सार्थक हो पाना होता है। यही सारांश है।

15. काल

काल की परिभाषा 'क्रिया की अवधि' के रुप में होना स्पष्ट है। क्रिया अपने में निरन्तर संपन्न होती ही रहती है। साथ में कुछ क्रियायें आवर्तित होती रहती है। ऐसे आवर्तन की निरन्तरता बनी रहती है। कभी बंद होती ही नहीं। ऐसी निरन्तर संपन्न होने वाली क्रिया के एक आवर्तन के आधार पर काल को पहचानने का आधार माना गया। धरती का अपने एक घूर्णन गति में, पूरी धरती में दिन रात्रि संपन्न होना पाया जाता है। इसी को एक दिन की संज्ञा दी गयी है। ऐसी दिन रात्रि की क्रिया सदा-सदा से चली आयी है, चलती रहेगी। इस अवधि को 24 भाग, 60 भाग से विभाजित कर घण्टा, मिनट, घटी, पल आदि नामों से पहचानते हैं। इस ढंग से हम समय का विभाजन करते गये, क्रिया को भूल गये। समय के आधार पर हर क्रिया का मूल्यांकन करने के लिए तैयारी कर लिये। समय प्रधान हो गया, वस्तु भूल गये। इस भूल के आधार पर लिये गये सभी निर्णयों से समस्यायें पैदा हुईं। क्रिया व फलन के आधार पर मूल्यांकन होने की आवश्यकता बनी रही।

क्रिया के अवधि रुप में काल गणना होना स्पष्ट है। क्रिया अपने रुप में निरन्तर, शाश्वत है। होना, होते रहना के अर्थ में काल गणना है। सह अस्तित्व अपने आप में नित्य निरन्तर होने के अर्थ में है। नित्य निरंतरता होना स्पष्ट होता है। यही निरंतरता काल संज्ञा में आती है और शाश्वीयता भी काल संज्ञा में आती है। संपूर्ण प्रकृति शाश्वत होने के आधार पर, अविनाशी होने के आधार पर, शाश्वीयता प्रमाणित होती है। क्योंकि संपूर्ण पदार्थावस्था अस्तित्व धर्म के रुप में विद्यमान है, यही पदार्थावस्था विकसित होकर प्राणावस्था में वैभवित होने के आधार पर अस्तित्व सहित पुष्टि धर्मी होना पहचान में आ चुकी है। संपूर्ण जीव में अथवा जीवावस्था अस्तित्व, पुष्टि सहित आशा धर्मी होना समझ में आ चुकी है। इसी क्रम में मानव अस्तित्व, पुष्टि, आशा सहित सुख धर्मी होना भी स्पष्ट है। सह-अस्तित्व में अनुभव = समाधान = सुख अनुभव से ही सुख होने की बात भी सुस्पष्ट हो चुकी है। इस विधि से अस्तित्व अविनाशी होना समझ में आता है। इसीलिए काल नित्य वर्तमान ही है। वर्तमान वस्तु के रुप में सहअस्तित्व ही है। वर्तमान को ही हम काल नाम दिये हैं। काल शब्द में वर्तमान ही अर्थ है। वर्तमान के रुप में सह-अस्तित्व ही है। इस प्रकार काल सह-अस्तित्व

के अर्थ में नित्य वर्तमान होना समझ में आता है।

भूत और भविष्य के अर्थ में जो काल को पहचानते हैं, वह भी क्रिया की अवधि के आधार पर ही पहचानते हैं। क्योंकि हर आवर्तनशीलता पहले भी घटी थी, अभी भी घट रही है और आगे भी घटती रहेगी। इस विधि से हम घटना के आधार पर भूत, भविष्य, वर्तमान को गढ़ने जाते हैं। मानव कल्पनाशील, कर्म स्वतंत्र होने के आधार पर सहज क्रिया की अवधि को अनेक भागों में विभाजित करते हुए, हम काल शून्य की जगह में पहुंच जाते हैं। यह एक छोटी सी घटना मानव के लिये अत्यन्त सुलभ है। एक घण्टे को 60 से विभाजित करते चल जायें, उसमें से 1 को पुनः विभाजित कर दें, इसको कई बार करने के बाद कितना बचा कहने पर कहते है, कुछ नहीं के बराबर या कुछ नहीं। पर यही मानव के भटकने का आधार बन गया। इसीलिए विज्ञान युग में काल को पहचानना सर्वाधिक जटिल हो गया। संभव नहीं है, ऐसा लगता है।

वर्तमान अगर शून्य हो जाय, मानव के आचरण को कहाँ पहचाने, व्यवहार को कहाँ पहचाने, मानव ज्ञान विज्ञान विवेक को पहचानने की जगह कहाँ है ? इसीलिए मानव समस्या ग्रस्त होकर समस्या को घटित करने लग गया। इसको अपना बहादुरी माना, इसी में मानव परंपरा काफी डूब चुकी है। आगे बचने का रास्ता यही है- सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान, विकास और जागृति का नित्य प्रकाशन, विकास व जागृति को प्रमाणित करने वाला एक मात्र मानव होने को पहचानने के आधार पर ही मानवाकाँक्षा, जीवनाकाँक्षा पूरी हो पायेगी।

16. प्राणावस्था, मानव शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में मानव

प्राणावस्था के मूल में यौगिक विधि, प्रवृत्ति स्वंय स्फूर्त विधि से होना पाया जाता है। इसके लिए अनुकूल परिस्थिति के संबंध में अध्ययन किया जाय तो केवल ब्रह्माण्डीय किरण और धरती पर अनेक प्रजाति के परमाणुओं से अपने आप में समृद्ध रहना ही, पृष्ठभूमि में दिखाई पड़ता है। इस धरती पर यौगिक पृष्ठभूमि के बारे में सोचा जाय, तो इससे अधिक कोई कारण नहीं है। ब्रह्माण्डीय अनुकूलता बनाये रखने में ब्रह्माण्डीय किरण विकिरण ही एक मात्र स्रोत है। आज भी यह चीज इस धरती के वातावरण तक प्रस्तुत ही है। किरण जो कुछ भी पहुँच पाता है, वह सब धरती की स्वयं के प्रकाश में अधिक प्रमाणित होते हैं। उसी के साथ-साथ, उष्मा का भी संबंध धरती से बना ही है। धरती एवं धरती में सभी परमाणु प्रभावित है, ऐसे स्थिति में और जो स्रोत हैं, वे विकिरणीय स्रोत ब्रह्माण्डीय क्रिया-कलापों के प्रभाव स्वरुप अनेक धरतीयों से निष्पन्न या प्रसारित विकिरणीयता का संचार ही रहता है। यह अभी भी बना है। इसी के साथ, यह धरती अनेक प्रजाति के परमाणुओं से समृद्ध होने के आधार पर, इस धरती में भी बहुत सारे विकिरणीय द्रव्य काम कर रहे हैं। इस ढंग से किरण, विकिरण, उष्मा के संयोग से ही सम्पूर्ण यौगिक क्रिया होने की पृष्ठभूमि रही है। यौगिक घटनायें, पानी की घटना से चलकर अम्ल और क्षार रुप में यौगिक घटनायें घटित होने की संभावना की पृष्ठ भूमि को स्वीकारा जा सकता है। क्योंकि अभी भी प्रकारान्तर से अम्ल, क्षार, पानी के संयोग से, विभिन्न अनुपात क्रम में, विभिन्न प्रकार के रसायन द्रव्य तैयार हुआ रहना अपने सम्मुख है। इनके अनुपातों में जो कुछ भी परिवर्तन के लिए सहायक होना है, वह कार्बनिक और अन्य प्रजाति के अणु परमाणुओं की सहायता सदा-सदा से रही। इस प्रकार अम्ल, क्षार और पानी के साथ-साथ उक्त अणु-परमाणु, रासायनिक वस्तु की प्रजातियों की संख्या को बढ़ाने में सहायक होता हुआ पाया जाता है।

इस प्रकार से इस धरती पर रसायन द्रव्य समृद्ध होने की क्रिया घटित हो रही है। इन रसायन द्रव्यों के योग-संयोग से पुष्टि तत्वों, रचना तत्वों का निर्माण, इस घटना के लिये

विकिरणीय किरण और उष्मा संयोग के बने रहने से प्रसवित होता हुआ, आज के दिन में वैभवित होता हुआ देखने को मिलता है। पुष्टि तत्व और रचना तत्व के योगफल में प्राण सूत्रों की रचना, प्रस्तुति, कार्यशीलता होता हुआ देखने को मिल रहा है। यही पुष्टि तत्व और रचना तत्व अपने आप में वैभवित होने के रुप में प्राण सूत्र और प्राण सूत्र का रचना यही उष्मा संयोग, विकिरणीय संयोग से कंपन वश, प्राण सूत्रों में रचना विधि सहित श्वसन क्रिया का प्रकाशन होता है। इसके तुरंत बाद ही प्राणकोषाओं का स्वरुप कोषाओं से रचित रचना, ऐसे रचनायें विविध होने के लिए प्राण सूत्रों में रचना विधि की स्वीकृति समझ में आती है। एक प्रकार की रचना अपने में समृद्ध होने के उपरान्त, दूसरे प्रकार की रचना के लिए प्राण सूत्रों में स्वीकृति, फलस्वरुप दूसरे प्रकार की रचनायें इसी क्रम में अन्य रचनायें इस धरती पर प्रमाणित हो चुके हैं। ये सब बीज-वृक्ष विधि सहित है। इसी क्रम में वनस्पतियों का वैभव क्रम, वनस्पतियों की रचना-विरचना होने का क्रम और निरन्तरता यथा स्थिति के रुप में है।

विरचित वनस्पतियों का अवशेष ही स्वेदज संसार का आधार बना। आज भी इस बात का परीक्षण कर सकते हैं। वर्षा ऋतु के पहले पत्ते इकठ्ठे कर के रख लें, वही पत्ते सड़ने के समय में बहुत सारे कीड़े मकोड़े हो जाते हैं। ये कीड़े मकोड़े अण्डज संसार को तैयार करते हैं। ऐसे अण्डज परम्परा में श्रेष्ठता की विधि प्राणकोषाओं में होना स्वभाविक रहा है, अथवा और श्रेष्ठता, और प्रजाति की बात होती रही। अण्डज संसार पुष्ट होता हुआ जलचर, भूचर, नभचर रुप में स्थापित होता ही रहा। अण्डज संसार की प्राणकोषाओं से पिण्डज संसार की प्राणकोषायें विकसित हुई। इन पिण्डज संसार में अधिकांश भूचर हुए, जबकि अण्डज संसार में भूचर, जलचर, खेचर तीनों हुए। इसमें से अण्डज संसार में नभचर अधिक हुए, इसके अनन्तर जैसे ही पिण्डज संसार आया, भूचर अधिक हुए। नभचर और जलचर में पिण्डज न्यून प्रजातियों को मिली। इसके बाद इस क्रम में पिण्डज संसार में बहुत प्रजातियाँ विकसित होते हुए अंतिम प्रजाति के रुप में मानव शरीर रचना की परम्परा विकसित हुई।

जीवन व शरीर का संयुक्त रूप में मानव परम्परा में कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता वश जीवों से भिन्न कार्य गतिविधियाँ मानव से सम्पन्न होना शुरु हुई। जैसे पेड़ काट देना, पत्थर को फोड़ देना, मिट्टी को खोद देना, यहाँ से प्रारंभ कर घर बनाना, कपड़ा बनाना, बच्चों को पालने में जीवों से भिन्न तरीके अपनाना, ये स्वयं स्फूर्त विधि से आता रहा है।

उसमें से चिन्हित रुप में, घर बनाना, कपड़ा बनाना, फसल उत्पादन करना, इन चीजों तक सकारात्मक भाग में आ गए। ये तीनों प्रकार के कृत्य जानवरों से सर्वथा भिन्न हो गए।

इसी क्रम में शरीर रचना ज्ञान को पाने का प्रमाण भी साथ-साथ चलता रहा। मूल में बताई गई प्राण सूत्र, प्राणकोष, प्राणसूत्र में रचना विधि क्रम में आदि मानव से अभी मुख्य स्वरुप तक में प्रजाति यथावत् रहते हुए श्रेष्ठता जितना भी होना था, वह होता आया। इसमें मानव प्रवृत्ति का भी योगदान समाया रहना संभावित है। इस विधि से मानव का उत्थान क्रम श्रृंखला बनी। आज की स्थिति में शरीर रचना ज्ञान, उसकी मूलभूत प्रक्रिया, उसका नाप तौल, रोगों की परीक्षण विधि, दवाईयों का संयोजन, ये सबका सब व्यापार से अनुबंधित हुई या व्यापार के चंगुल में फँस गयी। इस विधि से ये पूरा सकारात्मक भाग कुछ लोगों के हाथ में गिरफ्त हो गई। इससे भी सर्वाधिक मानव को असुविधायें बनी हुई है। इस समस्या से मुक्त होने का सोच विचार चल ही रहे हैं।

प्रधान मुद्दा शरीर रचना में प्राणकोषाओं की प्रवृत्ति, शरीर रचना मूलक में दो प्रजाति के प्राणकोषाओं का उत्सव, फलतः भ्रूणावस्था से गुजरते हुए शरीर रचना अर्थात् अंग-अवयव, हाथ, पैर आदि की रचना, पाँच महीने पूरा होते तक गर्भाशय में शिशु रचना का पूर्ण होना शिशु रचना पूर्ण होने में समृद्ध मेधस तंत्र का होना, जीव संसार से अधिक समृद्ध पूर्ण मेधस तंत्र तैयार होना समझ में आता है। इन्हीं अवधि में जीवन का शरीर को संचालित करने के लिए तत्पर होना, इसका संकेत मां होने वाली नारी को समझ में आना, शिशु जनन के उपरान्त उसके संवर्धन के लिये 100 वर्ष पहले जैसा ध्यान देते रहे, 50 वर्ष पहले जैसा ध्यान देते रहे, उससे अधिक सटीक ध्यान आज दे पाना, आज की स्थिति में ये सब मानव के अध्ययन में आता है।

इसमें रचना में विविधता के लिए प्राण सूत्रों में प्रवृत्ति के बारे में जिज्ञासा बनती है- क्यों होता है, कैसा होता है ? इस मुद्दे पर सोचने की आवश्यकता मानव में आता ही है। मुख्य मुद्दा रंग और रुप ही है, जिसमें विविधता हो पाता है। अंग अवयवों के कोई खास विविधता नहीं हो पाता। इस तथ्य को परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक समझ चुके हैं। कई प्रकार के रस द्रव्यों को आज का मानव सटीकता से पहचान चुका है। इसका अनुपातिक भिन्न-भिन्न प्रयुक्ति के आधार पर शरीर का रंग होना पाया जाता है। कुल मिला कर रंग, शरीर के ऊपरी

हिस्से में अर्ध सूखा हुआ, सूखा हुआ प्राणकोषा की स्थिति में रंग का पता लगता है। चमड़े के अंदर जो रक्त होता है, सबके शरीर में लाल ही होता है। ऊपरी हिस्से से रंग का पता लगता है। प्राणकोषायें शुष्क होने के उपरान्त जो प्रदर्शन करते हैं, इसी को हम रंग के रुप में जान पाते हैं। इसीलिए रंग के आधार पर मानव को पहचानना, मानव को पहचानने के अर्थ में सटीक नहीं हुआ। इसीलिए परस्पर मानव को सटीक पहचानने का प्रयास जारी रहा है। यह भी सोच सकते हैं, बहुत पहले से भी परस्पर पहचानने के लिये रंग प्रधान रहा, और कोई आधार खोजते रहे। इसी के साथ नस्ल भी बहुत प्रधान रह गए। काफी समय तक मानव रंग और नस्ल प्रधान विधि से अपना पहचान बनाये रखने के लिए कोशिश किया। अभी भी इसका गवाही जगह-जगह मिलता है। यद्यपि मानसिक रुप में इस जगह में से अर्थात् वंशानुषंगी पहचान विधि से रंग, नस्ल विचार से विचलित हो चुके हैं।

इस क्रम में मानव कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता को ज्ञान विधा में सार्थक बनाने दौड़ा। तब संसार की विविधता का अध्ययन न होने की कमजोरी के कारण, ज्ञान मीमांसा चाहते हुए, ज्ञानी होना चाहते हुए, ज्ञानी होने के लिए प्रस्तावित सभी तप, साधन, योग, अभ्यास करते रहे, किन्तु प्रमाणित होने की स्थली पर रिक्त रह गए। इसमें सांत्वना पाने के लिए उपाय रुप में शास्त्रों को आधार मान लिया। इस ढंग से धर्म ग्रन्थ, किताब प्रमाण माना गया। आदमी प्रमाण को प्रस्तुत करने वाला है, इसको स्वीकारा नहीं। ध्यान देने की बात यही है कि ज्ञान, विज्ञान, विवेक सम्बन्धी प्रमाणों को कोई प्रस्तुत करेगा तो वह मानव ही होगा। इस तथ्य से ज्ञानाभ्यासी संसार को अथवा आगे पीढ़ी को सार्थक प्रमाण दे नहीं पाया
।

सहअस्तित्ववादी नजरिए में ज्ञान संचार, विवेक संचार ही प्रधान मुद्दे के रुप में प्रस्तुत हुई। इसके बिना भ्रम के चंगुल से छुटकारा नहीं पाएगा। इसी के लिए लोकव्यापीकरण करने का प्रयोग का शुरुआत, शुरुआत में ही ज्ञान, विज्ञान, विवेक का सम्पूर्ण अध्ययन, निर्णय लेने का सूत्र, सम्भावना की व्याख्या ये सभी चीज विकल्पात्मक प्रस्ताव में समाहित है। यहाँ उल्लेखनीय मुद्दा यही है चिरकाल से मानव शरीर यात्रा का जिक्र इस धरती पर है ही। जीवन अपने में शाश्वत रुप में, चैतन्य इकाई के रूप में, अक्षय शक्ति, अक्षय बल के रुप में विद्यमान वर्तमान है ही। यह अनुकूल परिस्थिति बने रहते हुए, परिवार में ही क्रमिक

संयोग होते आए। सर्व प्रथम मानव ईश्वरीयता, ईश्वर ही कर्त्ता के रुप में शरणागत होने की बात सोची। इसका अंतिम छोर तिरोभाव ही कल्याणमय होने की स्थिति, इसी के लिए सारा ताना-बाना, इसमें मानव भरोसा न पाने के फलस्वरुप ही सुविधा संग्रह की ओर दौड़,यह सबको न मिलने के आधार पर इसमें तृप्ति बिन्दु का अभाव पुनः विकल्पात्मक स्वीकृतियाँ, इसी क्रम में सह अस्तित्व मानव सम्मुख प्रस्तुत हुई।

इसमें विचारणीय बिन्दु यही है प्राणकोषायें, मानव शरीर रचना को बनाने के संबंध में काफी अध्ययन हो चुका है। यह भी मानव स्वीकारने योग्य हो चुका है कि आशा, विचार, इच्छा पूर्वक, प्रमाण और संकल्प पूर्वक जीना ही होगा। यह स्वभाविक प्रक्रिया में आ चुका है। इसी के आधार पर हम इस बात को परिशीलन करने पर तुले हैं कि मानव के शरीर रचना में परिवर्तन हुई अथवा क्रिया कलाप में परिवर्तन हुई अथवा ज्ञान विधि में।

परिशीलन का आधार मानव होगा और जीता हुआ मानव ही होगा। मानव के मरे हुए शरीर के निरीक्षण परीक्षण से इन हड्डी, नसों, मांसपेशियों का संतुलन कैसे बना रहता है, बिगड़ने पर क्या-क्या परेशानी होती है, इसका अध्ययन होता है। किन्तु मानव संतुलित रहने के लिए मानसिकता और शरीर के तालमेल आवश्यक है। इस बात को हर ज्ञानी, विज्ञानी, विशेषज्ञ और सामान्य मानव स्वीकारते हैं। मानसिकता ही रोग और कष्ट को प्रगट करता है, स्पष्ट करता है। शरीर में जो कुछ परेशानी है, व्यतिरेक है, उसको पहचानने के लिए मानसिकता का प्रयोग आवश्यक है। मानसिकता ही सबको पहचान पाती है। इसके विपरीत, यंत्र पहचानते हैं इसका दावा हम करते हैं। यहीं से स्वास्थ्य संबंधी मामला यंत्र के अधीन हो गया, जबकि यंत्र किसी एक या एक से अधिक मानव से ही योजित-नियोजित, उत्पादित वस्तु है। इसमें मानव की मानसिकता नियोजित रहती ही है। जितने अपेक्षा से नियोजन होता है, उससे कम में ही यंत्र तैयार हो पाता है। इस बात को हम इस ढंग से प्रस्तुत करते हैं, किसी यंत्र के प्रयोजन को हम गणितीय विधि से 100 आंकते हैं तो उसमें से 75 और उससे कम में ही विश्वास रखना चाहिए, उपयोग करना चाहिए। इस भाग को यंत्र की सुरक्षा का भाग भी माना जाता है यंत्रों में जो कुछ भी संकेत मिलता है, इसको पढ़ने वाला भी मानव ही है। जिसको पढ़ना है, अपने मानसिकता सहित ही पढ़ पाता है, आदि काल से यह माना गया कि बेईमानी के बिना व्यापार चलता नहीं। अगर यही सूत्र हो तो इन सब

उपक्रमों की क्या हालत होगी, शोध और सोचने का मुद्दा है।

दूसरी विधा में जो आयुर्वेद है, यूनानी विधि है, ये करीब-करीब आधार रुप में एक ही है, नाड़ी और दोष पर धड़कन और धड़कन के ध्वनि को सुनते हुए शरीर की आवाज को सुनने की कोशिश, उसके आधार पर शरीर के कष्ट और व्यतिरेकों का अनुमान, स्वीकृति, उसके आधार पर दवाइयों की योजना, प्रयोग, सफलता पर विश्वास करना होता है।

इस प्रयोग से वांछित परिणाम अर्थात् स्वस्थ होने के स्थिति में रोग स्वरुप का निर्धारण किया गया था, जिसके आधार पर दवा नियोजित की थी, इस प्रक्रिया में विश्वास का उपार्जन, इस क्रम को कर्म अभ्यास का नाम दिया गया।

आयुर्वेद विधि से उसकी कई विधि से रोग के बलाबल को पहचानना, उसी के अनुसार औषधि को पहचानना, वन औषधि के रुप में, खनिजों के रुप में, जीवों से उपलब्ध औषधि के रुप में पहचानना। इनका योग, संयोग, परिपाक विधि से औषधि के बलाबल को पहचानना, रोग से अधिक बलशाली औषधि का प्रयोग करना, यही कर्म अभ्यास रोग को पहचानने से रोग चिकित्सा तक अनुशासित रहना पाया जाता है। इसमें मूल मुद्दा यही है, हर आयुर्वेदज्ञ को परिश्रम करने की आवश्यकता पड़ती है। फलस्वरुप-

रोगों को पहचानने	औषधियों को पहचानने
रोगों के बलाबल को पहचानने	औषधियों के बलाबल को पहचानने
पथ्य परहेज को पहचानने	अनुपान को पहचानने

के सम्मलित रुप में जो प्रयोग कर पाते हैं इसे ही कर्माभ्यास कहते हैं। ये पूरा का पूरा ज्ञान, विज्ञान विधि से चलकर अनुपान, पथ्य परहेज तक पहुँच पाते हैं, इसके फल परिणाम के आधार पर परम्परा के रुप में प्रमाण तक पहुँच पाते हैं।

इसमें मूल मुद्दा यही है, समझदार मानव परम्परा के उपरान्त, जितने भी ज्ञान, विज्ञान, विवेक सहित किया गया कर्म अभ्यास, स्वास्थ्य संयम विधा में लोकव्यापीकरण करने के पक्ष में ही कार्य करता हुआ, परिवर्तित होता हुआ देखने को मिलता है। दूसरे भाषा

से, समझदार मानव परम्परा मानवीयता विधि से जीने के उपक्रमों, निष्ठाओं का वैभव ही लोकव्यापीकरण के पक्ष में उदित हो पाता है। समझदार मानव सह अस्तित्व वादी विधि से ज्ञान, विज्ञान, विवेक से सम्पन्न मानव व्यक्तिवादी न होकर परिवार से सार्वभौम व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी से संपन्न हुआ रहता है। इसीलिए अखण्ड समाज के अर्थ में ही कार्य-व्यवहार-विन्यास होना पाया जाता है। अर्थात् ऐसा समझदार मानव सामाजिक होना, सर्व शुभ को चाहना, सर्व शुभ के लिए स्वयं को प्रवर्तित रखना, प्रमाण होने का उम्मीद रखना, इसके लिए अभ्यास करना स्वभाविक होना पाया गया। यहाँ उल्लेखनीय बिन्दु यही है कि सहअस्तित्ववादी नजरिये से समझदार मानव का बहुमुखी उपयोगी होना देखा गया। ऐसी चाहत हर मानव में है ही। इसीलिए ऐसे वैभव सार्थक होने की सम्भावना समझ में आती है।

समझदारी के साथ मानव का स्वास्थ्य संयम विधा में भागीदारी करना एक स्वभाविक प्रक्रिया है। इसके साथ ही शिक्षा संस्कार, न्याय सुरक्षा, उत्पादन कार्य, विनिमय कार्यों में भागीदारी करना सभी समझदार मानव का कर्त्तव्य एवं दायित्व हो पाता है। समझदारी के साथ कर्त्तव्य और दायित्व स्वीकृति सहज रुप में प्रमाणित हो जाता है। समझदारी के अनन्तर अर्थात् सहअस्तित्ववादी ज्ञान, विज्ञान, विवेक संपन्नता के उपरान्त दायित्व और कर्त्तव्य को स्वीकारने में देरी होती ही नहीं, यह स्वयं स्फूर्त विधि से प्रमाणित होती, प्रगट होती है। इन सबको भली प्रकार से परीक्षण, निरीक्षण कर निश्चित किया गया है। हर नर-नारी इसको परीक्षण पूर्वक सत्यापित कर सकते हैं, यह मानव परम्परा के लिए महत्वपूर्ण प्रेरणा रही है।

हर मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रुप में प्रकाशमान, विद्यमान है। हर मानव अपने स्वीकृति के आधार पर ही निर्णय लेकर जीता रहता है। ऐसे विचार पूर्वक निर्णय लेने के मूल में ज्ञान, विज्ञान, विवेक के संतुलन को अनुभव करना, स्वीकार करना, प्रमाणित करने के लिए प्रवृत्त होना और प्रमाणित करना। प्रमाणित करने का क्रम और प्रक्रिया समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रुप में ही होना पाया जाता है। ऐसी प्रमाण परम्परा पीढ़ी से पीढ़ी आश्वस्त विश्वस्त होने के लिए प्रेरक होती ही है। ऐसी आवश्यकता सदा-सदा मानव परम्परा में बनी ही रहती है।

उक्त विधि से परीक्षण, निरीक्षण करने पर पता चलता है कि जीवन के आधार पर

शरीर का संचालन हो पाता है, न कि जीवन का संचालन शरीर के अनुसार। इसे ऐसा भी स्पष्ट किया जा सकता है कि समझदार मानव अपने समझदारी के अनुसार शरीर को संचालित करता हुआ देखने को मिलता है और समझदारी मानव का वर है, अधिकार है, वर्चस्व है, इसीलिए समझदारी सर्व वांछित लक्ष्य है। समझदार मानव अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में ही हर कार्य, व्यवहार, विचारों को प्रस्तुत कर पाता है। इसके फल परिणाम में जीवनापेक्षा, मानवापेक्षा सफल हो पाता है। इसीलिए मानव लक्ष्य को पहचानने के उपरान्त उसकी सार्थकता के अर्थ में जितने ही कार्य विन्यास होते है, कृत, कारित, अनुमोदित भेदों से, कार्यों का फल परिणाम, मानव लक्ष्य को प्रमाणित करने की स्थिति में व्यवस्था में जीना स्वभाविक है। इसीलिए समझदार मानव के अध्ययन से यही स्पष्ट होता है कि समझदार मानव जीवन अनुसार शरीर को चलाता है। दूसरी भाषा में समझ के आधार पर शरीर संचालित होता है। अतएव इस पर हम विश्वास कर सकते हैं, शोध कर सकते हैं, जागृति के उपरान्त जीवन का वैभव, शरीर के द्वारा मानव परम्परा में प्रमाणित हो पाता है। यह परम्परा के लिए समाधान का प्रवाह है, समाधान प्रवाह में ही मानव परम्परा का वैभव मौलिक रुप में प्रमाणित हो जाता है। इसमें हर समझदार मानव भागीदारी करने के लिए इच्छुक है ही। इसलिए हर मानव समझदार होना ही चाहता है। इस प्रकार से हर मानव के समझदार होने का लोकव्यापीकरण की सम्भावना समीचीन है।

इस बात पर हम पहले से स्पष्ट कर चुके हैं कि पदार्थावस्था से प्राणावस्था, प्राणावस्था से जीवावस्था समृद्ध होने के उपरान्त ही मानव का अवतरण इस धरती पर हुआ। अवतरण के मूल में प्राण सूत्र में रचना विधि में गुणात्मक परिवर्तन होना, यह परिवर्तन उत्सव विधि से सम्पन्न होना, फलस्वरुप मानव का अवतरण विभिन्न देश, काल, परिस्थिति के अनुसार जीवों से भिन्न समृद्ध मेधस सम्पन्न जीव शरीरों से निष्पन्न होने की बात स्पष्ट की। निष्पन्न होने के उपरान्त मानव में मौलिक अभिव्यक्ति, जीवों से भिन्न कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता ही रहा। यह आदि मानव में भी रहा, अभी भी है। इसके प्रयोग क्रम में परम्परा में जो कुछ भी ज्ञान हुआ, उपलब्धि हुई, वह स्वभाविक रुप से परम्परा ने अपनाया है। इस बीच उपयोगिता को स्वीकारा है निरर्थकता को छोड़ दिया है। इसी विधि से मानव की कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता का शोध होता आया है। इस विधि से शरीर रचना का यथावत रहना अर्थात् जितने बार भी दोहराया जा रहा है, अथवा पीढ़ी से पीढ़ी हो रहा है, शरीर रचना

स्वरुप और शरीर रचना के मूल में सप्त धातु, इनका तालमेल यथावत बना ही रहा है। इन सभी गवाहियों के आधार पर हजारों वर्ष, लाखों वर्ष बीतने के बाद भी शरीर में समाहित द्रव्य, गुण, रचना विधि, अंग, प्रत्यंग और अवयव भी यथावत् ही हैं। मेधस तंत्र सदा-सदा कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता को पाँचों संवेदनाओं द्वारा, पाँचों प्रकार के कर्म इन्द्रियों द्वारा स्पष्ट करना होता ही आया है। पहले से ही कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता की तृप्ति बिन्दु को पाने की परिकल्पना, प्रयास भी करते ही आया। अब भी वह यथावत् बनी हुई है। इन्हीं स्पष्ट स्थिति के आधार पर मानव अपने में परिभाषा के अनुसार मनाकार को साकार करने में सर्वाधिक सफल हो गया है। मनः स्वस्थता का पक्ष यथावत् रिक्त पड़ा हुआ है। यही आज की शोध का महत्वपूर्ण बिन्दु है। मनः स्वस्थता की वीरानी आबाद हो जाय, यही मुख्य मुद्दा है। सर्व शुभ कल्पना का आधार भी इतना ही है।

इस 21 वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक जो मनाकार को साकार करने की विधा सर्वाधिक प्रमाणित हुई है, इसके मूल में जीवन सहज कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता में परिमार्जन होना है, न कि शरीर में। भौतिकवाद के अनुसार, शरीर रचना के अनुसार चेतना निष्पत्ति होती है। ऐसा वास्तव में हुआ नहीं है। इसी आधार पर बड़ी जोड़-तोड़ से शरीर परिवर्तन के बारे में, रचना परिवर्तन के बारे में शोध करते-करते शरीर रचना विशेषता क्षत-विक्षत होकर प्रश्नों की झड़ी से दब गया है। जिसके ऊपर नोबेल पुरस्कार का भी निर्धारण हो चुका है। इस मुद्दे की सार्थकता, प्रमाण, उज्जवल भविष्य की सम्भावना को प्रस्तुत करने में सर्वथा असफल रहा। थोड़े समय पहले से ही शरीर रचना विज्ञान के अनुसार, रक्त की प्रजातियों की संख्या निश्चित हो गई, बाकी सब पहले से निश्चित थी। सभी मानव में मेधस तंत्र सब में समान है, यह भी पता लग गया। इसमें जाति, मत, सम्प्रदाय और रंग, नस्ल, भाषा, देश, काल की कोई दखल अंदाजी नहीं है। ये सभी निष्कर्ष शरीर रचना के अनुसार चेतना बहती है, ऐसा जो सोचते रहे वह गलत सिद्ध हो चुकी है। इसी आधार पर, क्लोनिंग तकनीकी की मूल मान्यता है कि एक मेधावी व्यक्ति जिसको हम मेधावी कहते हैं, के प्राण सूत्रों को परिवर्धित करने पर उनके जैसा ही समान शरीर तैयार हो सकता है, वैसी ही चेतना भी तैयार हो सकती है। यह भी भ्रम सिद्ध हो गया है। इसी के साथ व्यापार विधा में क्लोनिंग तकनीकी में जो विशेषज्ञ हैं, उनकी यह घोषणा 'अपने प्रतिरुप को प्राप्त कर लो' भी अर्थहीन हो गई है। पहले ये मान्यता थी कोई अच्छे बुद्धिमान व्यक्ति का एक इन्च चमड़े से

हजारों, लाखों, अरबों अच्छे आदमी को तैयार कर लेंगे, जब तैयार कर लेंगे, कोई भी अपना संतान के रुप में अपना लेंगे, क्योंकि सभी अपने संतान को बुद्धिमान बनाना चाहते हैं। इसी क्रम में यत्न, प्रयत्न करके देखा गया, इसमें अभी तक किये प्रयोगों में जिन भेड़, बकरी, जीव-जानवर के साथ प्रयोग किया गया, मानव के साथ प्रयोग किया, वह हुबहू वैसे ही नहीं हो पाया। आंशिक व्यतिरेक बना ही रहा।

इस मुद्दे पर यह कोई बहुत महत्वपूर्ण बात नहीं कि शरीर रचना जैसा प्राकृतिक विधि से दोहरा रहा है, वैसे दोहराया जाये। इतने मात्र से कोई बात सिद्ध नहीं होती। क्योंकि, पंडितों के संतान मूर्ख और मूर्खों के संतान पंडित होता हुआ देखा गया है। इसको ध्यान में रखना अति आवश्यक है।

जीवन ज्ञान जब तक नहीं होता रहा, तब तक हम यह मानने के लिए तैयार थे, बाध्य थे कि वंश के अनुसार रुप, गुण, संस्कार होते हैं। इस प्रकार की मान्यता के साथ जातिवादी, वंशवादी श्रेष्ठता की बहस और वकालत पहले चली। ये सब आज की स्थिति में टूट चुकी है। ब्रह्मवाद, आत्मवाद, जातिवाद, नस्लवाद ये सभी वाद विवादग्रस्त हो चुके हैं। फलस्वरुप, शंकाओं का घेरा बलवती होता जा रहा है। शरीर रचना के आधार पर चेतना निष्पन्न होने, बहने का जो आश्वासन था, वह भी विवादग्रस्त हो गया। अब आदमी कहाँ जाय, यही मुख्य मुद्दे की बात है। इसी 21वीं शताब्दी के पहले दशक तक 20वीं शताब्दी के अंतिम दशक से शुरु हुई, एक विकल्पात्मक प्रस्ताव, सहअस्तित्व वादी विश्व दृष्टिकोण, मानव को एक अखण्ड समाज के रुप में, जाति, धर्म समझ अर्थात् ज्ञान, विज्ञान, विवेक और जीवन अर्थात् चैतन्य इकाई में समानता, अक्षय शक्ति, अक्षय बल के समानता और जागृति के स्वरुप में समानता को बोध कराने के लिए अध्ययन विधि प्रस्तुत हो चुकी है।

इसी क्रम में जीवन तृप्ति और मानव तृप्ति की एकरुपता को पहचानने की आवश्यकता है, सार्थक बनाने की आवश्यकता है। इस विधि से अर्थात् सहअस्तित्व वादी नजरिये से मानव शरीर और जीवन के संयुक्त रुप में विद्यमान है, प्रकाशमान है। ऊपर कही सारी कहानी के तात्पर्य में मानव शरीर में कोई विकास होना नहीं और शरीर में कोई विकास होता नहीं। जो कुछ भी महिमा आदि मानव से अत्याधुनिक मानव तक प्रकाशित हुई है, यह सर्वमानव में पाए जाने वाली कर्मस्वतंत्रता, कल्पनाशीलता की अभिव्यक्ति है, यह भी

स्पष्ट हो गई है। इसके तृप्ति बिन्दु को शोध, अनुसंधान करते हुए अर्थात् कर्म स्वतंत्रता का शोध अनुसंधान करते हुए, सुखी होने की आकाँक्षा ही है, इसी क्रम में मनाकार को साकार करना सार्थक हो गया। यह कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता की अभिव्यक्ति जीवन की महिमा है, न कि शरीर की। क्योंकि, शरीर प्राणावस्था की द्रव्य वस्तु, प्रक्रिया से ही सम्पादित हुआ है। ये पूरा रचना प्राणकोषा प्रधान है। ये प्राणकोषाऐं अपने क्षमता से अधिक होना संभव नहीं। मानव शरीर रचना के लिए जितना औकात स्थापित हुई, वह यथावत दोहराता हुआ दिखाई पड़ती है। कर्मस्वतंत्रता, कल्पनाशीलता, मानसिकता जो सर्व मानव में देखने को मिल रहा है। यह मानसिकता मूल स्वरुप में जीवन जागृति की ही एक प्रक्रिया है।

जीवन में निरन्तर सम्पन्न क्रिया कलापों में से मन एक क्रिया है, दूसरी क्रिया है वृत्ति (विचार), तीसरी क्रिया है साक्षात्कार (चित्त) किसी को समझने के लिए, अर्थ स्वीकृति के लिए, अर्थ पूर्वक वस्तु स्वीकृति के लिए जो प्रायोजित है। जैसे पानी शब्द के साथ ही पानी रुपी वस्तु को अस्तित्व में स्वीकारने की क्रिया यह चित्त क्रिया है। इसी प्रकार बुद्धि में बोध क्रिया, बोध क्रिया निश्चयता, स्थिरता को स्वीकारने की अर्हता, इसी को दूसरी भाषा में सत्य धर्म, न्याय को दृढ़ता पूर्वक स्वीकारने की क्रिया है। पाँचवीं क्रिया अनुभव क्रिया। अनुभव क्रिया की महिमा नित्य समाधान, नित्य सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द के रुप में सत्य को स्वीकारने, प्रमाणित करने और आनन्द रुपी आश्वासन से परिपूर्ण होने की क्रिया है। ये पाँचों क्रियायें जीवन बल के रुप में कार्य करता हुआ स्पष्ट होता है। अनुभव ही प्रमाण है। इसका फलन आनन्द है। जीवन स्वत्व है, इसको प्रमाणित करने के क्रम में संकल्प, संकल्प को परावर्तित करने के लिए चित्रण, चित्रण को सार्थक बनाने के लिए विश्लेषण, विश्लेषण को क्रियान्वयन करने के लिए चयन (तौर-तरीका का चयन) पूर्वक प्रमाणित करता हुआ मानव को पहचाना जा सकता है। इस विधि से ये पाँचों परावर्तित होने वाली क्रियाओं को शक्ति नाम दिया गया। इसी बल को स्थिति, परावर्तित करने वाले क्रिया को गति नाम दिया है। इस प्रकार जागृत मानव का स्थिति, गति, जीवन क्रियाकलाप के आधार पर अर्थात् जीवन के स्थिति गति के आधार पर परस्पर पहचानने में आता है। शरीर रचना के अनुसार मानव का पहचान होता ही नहीं, न कभी होगा। इसीलिए हमें जीवन में परिवर्तन पर ध्यान देना बनता है। परिवर्तन आज तक के प्रधान शोध, अनुसंधान से साकार होने की गतिविधियाँ सुस्पष्ट हो चुकी हैं। शेष भाग मनः स्वस्थता है, उसे सहअस्तित्ववादी दृष्टिकोण से सुस्पष्ट

होने वाली ज्ञान, विज्ञान, विवेक सम्पन्नता पूर्वक अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी पूर्वक मानव आँकाक्षा और जीवन आकाँक्षा को सार्थक बना सकते हैं। इसे हर नर-नारी प्रयोग पूर्वक प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं।

17. ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय

दर्शन (न्याय, धर्म, सत्य), दृष्टा (मानव जीवन), दृश्य (सह-अस्तित्व),

ध्यान (जागृति), ध्याता (मानव), ध्येय (भ्रम मुक्ति, जीवन मूल्य, मानव लक्ष्य सहज प्रमाण),

कारण (ज्ञानावस्था), कर्ता (मानव), कार्य (अखण्डता, सार्वभौमता में भागीदारी),

साध्य (दृष्टा पद, जागृति), साधक (मानव), साधन (शरीर व जीवन)

ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के मुद्दे पर अध्यात्मवादी, अधिदैवी वादी, अधिभौतिक वादी नजरिये से सुदूर विगत में ही सोचना मानव परम्परा में ख्यात रहा अथवा विदित रहा। इन तीनों विधाओं का एकत्रित नामकरण आदर्शवाद रहा। इन तीनों में समानता का बिन्दु रहस्य ही है। भौतिकता से अधिक वाला भी एक रहस्य। देवता अपने में एक रहस्य, अध्यात्म अपने आप में रहस्य है। आदर्शवाद का मूल आधार स्थली, गम्यस्थली दोनों रहस्य है। रहस्य के आधार और गम्यस्थली होने के आधार पर ही मतभेदों का होना आवश्यक रहा। इसी के साथ-साथ अनेक विधि से प्रयोग, अभ्यास का भी प्रयास हुआ। जितने भी प्रकार से इन तीनों विधाओं में प्रयास हुए अभ्यास, साधन, योग, ध्यान से लेकर पूजा, पाठ, प्रार्थना तक। इन सभी कृत्यों के फलन के रुप में जो आश्वासन मिला, वह मोक्ष और स्वर्ग, मोक्ष भी एक रहस्य, स्वर्ग भी एक रहस्य रहा और यही गम्यस्थली कहलाता रहा।

आधार भी रहस्य होना इस प्रकार से रहा है। एक रहस्य से ही, रहस्य में ही शून्य, ब्रह्म से ये सभी सृष्टि, स्थिति, लय हुई, अथवा भौतिक क्रियाकलाप से परे किसी वस्तु से सृष्टि, स्थिति लय हुई। इस प्रकार शुरुआत रहस्य से और अन्त भी रहस्य से हुआ। अन्त, शुभद रहस्य स्वर्ग और मोक्ष से। शुभद इसीलिए कि स्वर्ग और मोक्ष को आनन्द है, रहस्य इसीलिए कि रहस्य में इसका अन्त होने से। इन्हीं तीनों प्रकार की संयुक्त आशय रुपी आदर्शवाद के अनुसार दृश्य, दृष्टा, दर्शन के बारे में ब्रह्मवादियों के अनुसार ब्रह्म ही दृष्टा, ब्रह्म ही अपने संकल्प के अनुसार दृश्य और ब्रह्म ही दर्शन करने वाली दृष्टि है। वैसे ही

अधिदैवी वाले भी कहते हैं, जो दस्तावेजों के अनुसार पढ़ने को मिलता है, उसके अनुसार शक्ति विद्या, शिव विद्या, और विष्णु विद्या तीन प्रतिपादित हैं। शक्ति में ही सम्पूर्ण दृश्य, सृष्टि स्थिति लय है। वैसे ही तीनों में ये देवाधीन है। सभी दृश्य इसीलिए है कि दृश्य रुप में देवताओं का संकल्प है, देवता ही दृष्टा हैं, दर्शन करने वाला भी देवता है। इसी प्रकार अधिभौतिक वाद के अनुसार भी भौतिकता से अधिक ताकतवर कोई रहस्यमयी दृष्टा, दृश्य, दर्शन होने की बात कही गयी है। इसी क्रम में ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के बारे में भी बात बताई गई है। ब्रह्म ही अथवा देवता, स्वयं में ही ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के रुप में, ध्यान, ध्याता, ध्येय ये सब है। कार्य, कारण, कर्ता के रुप में भी ईश्वर अथवा देवता को मानने के लिए तैयार है। ये पहले की आवाज इस रुप में ही रही है।

भौतिक वादी विचार के अनुसार रचना भेद से चेतना भेद निष्पन्न होता है, इनका प्रमाण देखने को नहीं मिलता। भौतिक वस्तु ही चेतना का स्रोत माना गया। इस क्रम में पत्थर, मिट्‌टी को परीक्षण करने से कुछ दिखता नहीं है।

सहअस्तित्व वादी नजरिये से मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रुप होने का अध्ययन सम्पन्न करते हुए, जीवन चैतन्य पद प्रतिष्ठा होने की स्थिति समझ में आता है। चैतन्य प्रकृति रुपी जीवन जागृतिक्रम से जागृति पूर्वक, मानव परम्परा में जागृति को प्रमाणित करना होता है। मानव परम्परा में शरीर और जीवन का सान्निध्य आवश्यक है, अथवा सहअस्तित्व आवश्यक है। जीवन में होने वाली दस क्रियाओं के आधार पर जैसा अनुभव, प्रमाण, अनुभव का बोध और संकल्प, संकल्प का साक्षात्कार एवं चित्रण, चित्रण का तुलन और विश्लेषण, विश्लेषण का आस्वादन और चयन, ये दस क्रियायें जीवन में सम्पादित होती हैं। यही दस क्रियायें जीवन जागृति के अनन्तर प्रमाणित होते हैं। शरीर को जीवन मानते तक, जीवन क्रियाओं में से साढ़े चार क्रियायें ही सम्पन्न हो पाते हैं। शेष साढ़े पाँच क्रियायें प्रमाणित नहीं हो पाते। इसी संकट वश मानव प्रताड़ित होता है। स्वयं में अन्तर्विरोध वश, जीवन शक्तियाँ प्रमाणित नहीं हो पाने के संकट वश प्रताड़ित है। इसी तरह शरीर को जीवन समझने का भ्रम समस्याओं का कारण बनना और ब्राह्य प्रताड़ना वश मानव व्याकुल एवं संकट ग्रस्त रहता है। इसका प्रभाव द्रोह, शोषण, युद्ध सदा-सदा से मानव कुल के सिर पर ही नाच रहा है। अथवा मानव इसे अपरिहार्य मान चुका है। इससे घटिया तस्वीर मानव

कुल का क्या हो सकता है यह सोचने का बिन्दु है। जबकि मानव इसे ही शान मानता रहा है।

सहअस्तित्व वादी विधि से जीवन और शरीर का अध्ययन और सहअस्तित्व का अध्ययन, सहअस्तित्व में जीवन अविभाज्य रहने का अध्ययन, सहअस्तित्व में संपूर्ण भौतिक, रासायनिक क्रियायें सम्पन्न होने का सम्पूर्ण अध्ययन करतलगत हो गया। रासायनिक, भौतिक वस्तुओं, सम्पूर्ण प्रकार की वनस्पति संसार, जीव संसार और मानव शरीर रचनायें सम्पन्न होने की कार्य कलाप का अध्ययन सुलभ हो जाता है। मानव शरीर में मेधस तंत्र सर्वोच्च समृद्ध रचना होने के आधार पर जीवन की कर्मस्वतंत्रता, कल्पनाशीलता प्रकाशित होते हुए, सोच विचार, कार्यकलाप, फल परिणाम के आधार पर, और सोच विचार होते हुए अब कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता की तृप्ति बिन्दु की ओर, शोध अनुसंधान करने के लिए प्रस्तुत हुए। क्योंकि द्रोह-विद्रोह, शोषण-युद्ध से हम छुटकारा पाना चाहते ही हैं। ये संभवतः सर्वाधिक भले आदमियों में स्वीकृत है ही। इसके लिए सह-अस्तित्व वादी अध्ययन की आवश्यकता रही।

सह-अस्तित्व वादी सोच के अनुसार ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय को ठीक-ठीक अध्ययन किया जा सकता है। ज्ञाता के रुप में जीवन को, ज्ञान के रुप में सहअस्तित्व दर्शन ज्ञान; जीवन ज्ञान; मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान को पहचाना गया। जागृति पूर्वक मानवाकाँक्षा, जीवनकाँक्षा को सार्थक बनाना ज्ञेय का तात्पर्य है, अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था पूर्वक मानव लक्ष्य, जीवन लक्ष्य को प्रमाणित करना है, यही ज्ञेय के सार्थक होने का प्रमाण है।

इसी प्रकार दृष्टा, दृश्य, दर्शन की भी सार्थक व्याख्या हो पाती है। दृष्टा पद में जीवन, दृश्य पद में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व, दर्शन के अर्थ में अस्तित्व दर्शन के रूप में सार्थक व्याख्या होना हो जाता है।

ध्यान, ध्याता, ध्येय भी इसी क्रम में स्पष्ट होता है। ध्येय जागृति के रूप में, ध्यान समझदारी से सम्पन्न होने; समझदारी को प्रमाणित करने के क्रम के रूप में, ध्याता जीवन के रूप में पहचानने की व्यवस्था है।

कर्त्ता, कार्य, कारण भी स्पष्ट है। कर्त्ता पद में जीवन, कार्य पद में मानव; देव मानव; दिव्य मानव पद-प्रतिष्ठा, कारण के रूप में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व नित्य प्रतिष्ठा

है।

साध्य, साधन, साधक के रूप में जो सोचा जाता था, सहअस्तित्व वादी नजरिये से साधक को पहचानने का तरीका बहुत आसान, प्रयोजन से जुड़ा हुआ होना पाया जाता है। सहअस्तित्ववादी नजरिये से साधक मानव के रूप में पहचानने में आता है। साध्य के रूप में जीवन जागृति सुलभ हो पाता है। मानव स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार के रूप में जागृति ही पहचानने में आता है। ऐसे स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार, समझदारी के रूप में और ऐसी समझदारी ज्ञान, विज्ञान, विवेक रूप में पुनः स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार वैभवित होना पाया जाता है। यही जागृति का प्रमाण है। इस प्रकार साध्य कितना सार्थक है अर्थात् जागृति रूपी साध्य कितना सार्थक है, हर व्यक्ति सोच सकता है। साधन के रूप में शोध, अनुसंधान के लिए कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता, परम्परा रूप में प्रमाण, यही साधन है। प्रमाण सम्पन्न परम्परा अर्थात् प्रमाण और प्रमाणिकता के धारक वाहक के रूप में मानव परम्परा जब अपने को प्रमाणित कर पाती है, उसी समझ में सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज का प्रमाण बना ही रहता है। सार्वभौम व्यवस्था में प्रमाणित होने में भागीदारी करना ही प्रमाण सर्वसुलभ रहता है। सार्वभौम व्यवस्था के अंगभूत रूप में ही मानवीय शिक्षा संस्कार वैभवित होना पाया जाता है। मानव परम्परा में सार्वभौमता का वैभव ज्ञान, शिक्षा संस्कार पूर्वक ही सार्थक होना पाया जाता है। यही प्रमाण परंपरा का तात्पर्य है। ऐसे भी सामान्य सर्वेक्षण से पता लगता है, सार्वभौम अर्थात् सर्वमानव में स्वीकृति। सहअस्तित्ववादी विधि से जितने भी विधा में अभ्यास, अध्ययन, कार्य, व्यवहार व्यवस्था में प्रमाण की कतार बना है, उसे हृदयंगम करना, अपने में जाँच पाना, सार्थकता-निरर्थकता को निश्चय कर पाना, हर नर-नारी के लिए अति सुगम होना पाया गया।

मानव का साध्य वस्तु जागृति है। जिसका स्वत्व स्वतंत्रता एवं अधिकार का स्वरूप ज्ञान, विज्ञान, विवेक जिसका प्रमाण कार्य व्यवहार पूर्वक अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का स्वरूप है जो एक दूसरे से कड़ी के रूप में जुड़ा हुआ है। इसमें किसी कड़ी को विभाजित नहीं कर सकते। परम्परा के रूप में जो साध्य वस्तु है, मानवाकाँक्षा, जीवनाकाँक्षा उसे सहअस्तित्व वादी ज्ञान, विवेक, विज्ञान के बिना प्रमाणित करना सम्भव नहीं हो सकता। सहअस्तित्व वादी विधि से ही प्रमाणित हो सकता है। सहअस्तित्व कोई रहस्य या संघर्ष

नहीं है। सहज रूप में, सर्वमानव को समझ में आने वाला और सर्वमानव से आशित वस्तु है। क्योंकि हर मानव किसी की परस्परता में ही जीना और सुख पाना चाहता है। इस विधि से सहअस्तित्व की महिमा समझ में आता है।

साथ में जीने के क्रम में, सर्वप्रथम मानव ही सामने दिखाई पड़ता है। ऐसे मानव किसी न किसी सम्बन्ध में ही स्वीकृत रहता है। सर्वप्रथम मानव, माँ के रूप में और तुरंत बाद पिता के रूप में, इसके अनन्तर भाई-बहन, मित्र, गुरु, आचार्य, बुजुर्ग उन्हीं के सदृश्य और अड़ोस-पड़ोस में और भी समान संबंध परंपरा में है हीं। जीने के क्रम में, संबंध के अलावा दूसरा कोई चीज स्पष्ट नहीं हो पाता है। संबंधों के आधार पर ही परस्परता, प्रयोजनों के अर्थ में पहचान, निर्वाह होना पाया जाता है। इस विधि से पहचानने के बिना निर्वाह, निर्वाह के बिना पहचानना संभव ही नहीं है। इसमें यह पता लगता है कि प्रयोजन हमारी वांछित उपलब्धि है। प्रयोजनों के लिए संबंध और निर्वाह करना एक अवश्यंभावी स्थिति है, इसी को हम दायित्व, कर्त्तव्य नाम दिया। सम्बन्धों के साथ दायित्व और कर्त्तव्य अपने आप से स्वयं स्फूर्त होना सहज है। कर्त्तव्य का तात्पर्य क्या, कैसा करना, इसका सुनिश्चियन होना कर्त्तव्य है। क्या पाना है, कैसे पाना है, इसका सुनिश्चियन और उसमें प्रवृत्ति होना दायित्व कहलाता है। हर संबंधों में पाने का तथ्य सुनिश्चित होना और पाने के लिए कैसा, क्या करना है, यह सुनिश्चित करना, ये एक दूसरे से जुड़ी हुई कड़ी है। ये स्वयं स्फूर्त विधि से, सर्वाधिक संबंधों में निर्वाह करना बनता है। जागृति के अनन्तर ही ऐसा चरितार्थ होना स्पष्ट होता है। भ्रमित अवस्था में संबंधों का प्रयोजन, लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता है। भ्रमित परम्परा में सर्वाधिक रूप में संवेदनशील प्रवृत्तियों के आधार पर, सुविधा संग्रह के आधार पर और संघर्ष के आधार पर संबंधों को पहचानना होता है। सुदूर विगत से इन्हीं नजरियों को झेला हुआ मानव परम्परा मनः स्वस्थता के पक्ष में वीरान निकल गया। जबकि सहअस्तित्व वादी विधि से मनःस्वस्थता की संभावना, सर्वमानव के लिए समीचीन, सुलभ होना पाया जाता है। इसी तारतम्य में हम सभी संबंधों को सार्थकता के अर्थ में, प्रयोजनों के अर्थ में और संज्ञानीयता पूर्ण प्रयोजन के अर्थ में पहचान पाते हैं। इसका स्पष्ट रूप सार्वभौम व्यवस्था अखण्ड समाज के रूप में, इसका स्पष्ट रूप मानवाकाँक्षा; जीवनाकाँक्षा प्रमाणों के अर्थ में स्वीकार सहित और मूल्यांकन सहित कार्य व्यवहार और व्यवस्था और आचरणों को परिवर्तन कर लेना ही सहअस्तित्व

वादी ज्ञान, विज्ञान और विवेक का फलन होना पाया जाता है।

मानवाकांक्षा - समाधान, समृद्धि, अभय सह-अस्तित्व सहज प्रमाण।

जीवनाकांक्षा - सुख, शांति, संतोष आनंद के रूप में गण्य है।

18. दृष्टा, कर्त्ता, भोक्ता

जागृत मानव परम्परा में मौलिक अधिकार सम्पन्न दृष्टा, कर्त्ता, भोक्ता के रुप में प्रमाणित है। सर्वाधिक देशों में ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, देवी, देवताओं को स्वीकारने के लिए मानसिकता को अध्यात्मवादी तैयार किये हैं। इसके लिए सद्ग्रन्थ भी तैयार हुए और सारे धर्मों के मूल में देववाणी, ईश्वरवाणी अथवा आकाशवाणी के रूप में सद्ग्रन्थों में लिखी हुई सद्वाक्यों को माना गया। इसी को सद्ग्रन्थ माना गया। ऐसी मान्यता के आधार पर ग्रन्थ, ग्रन्थ के आधार पर उपदेश विधि प्रचलित हुई। ऐसे सद्ग्रन्थ तब तैयार हुए जब मानव एक देश के मानव सभी देश के साथ संबंध करने में समर्थ नहीं रहे। जब मानव ऐसा सामर्थ्य सम्पन्न हो गए, एक दूसरे समुदाय एक दूसरे के धर्म ग्रन्थों को अध्ययन करने को तैयार हुए। इसमें पता चला कि जिन बातों को हम अपने धर्म ग्रन्थ के अनुसार स्वीकारते हैं, दूसरे धर्म ग्रन्थ उसको स्वीकारते नहीं है। फिर यह ईश्वरवाणी कहाँ है। इस प्रकार से धार्मिक मतभेद उलझता ही गया। सहज रूप में सबको यह स्वीकार होता है कि धर्म ग्रन्थ होना चाहिए साथ में यह भी मानसिकता में स्वयंस्फूर्त कल्पना आती है कि धर्म में कोई विवाद होना नहीं चाहिए, यदि विवाद होता है, तो धर्म ही क्या हुआ! इस प्रकार की तर्क बुद्धि से सोचने वाले मानव भी इस धरती पर हैं ही। इसके बावजूद, निर्विवाद धर्म ग्रन्थ क्या होना चाहिए, यह हमें आदर्शवादी विधि से उपलब्ध नहीं हुआ। भौतिकवादियों के लिए धर्म ग्रन्थ की जरूरत ही नहीं है। इस प्रकार हम साधारण मानव प्रताड़ित होते ही रहे, वह अंतर्विरोध से भी, बाह्य संसार के विरोधों में द्रोह-विद्रोह से, शोषण और युद्ध भय से पीड़ित होते ही रहे। इन सब के मूल में ईश्वर कृपा, देव कृपा को ही मानते आए, किसी भी क्षण हमें किसी भी मुद्दे पर राहत मिली, प्रसन्नता मिली, उसे ईश्वर, देवता या गुरुकृपा माना। इस प्रकार हम सामान्य मानव हर्ष-विषाद को झेलते रहे। स्वयं में विश्वास न तो सामान्य कहलाने वाले, न ही विशेष कहलाने वाले के पास रहा। जबकि हर मानव में विश्वास के आधार पर राहत पाने की बात पहचानने में आती रही है। अभी भी वैसा ही है। जिन परस्परताओं में हम विश्वास कर पाते हैं, उसी में हम राहत पाते हैं। यह भले ही क्षण, दिन, वर्ष क्यों न हो। इसे ही हम ईश्वर, देवता, गुरुकृपा मानकर स्वयं को भुलावा देने का कार्य सदा-सदा करते रहते हैं। जबकि

मानव अपने कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता वश ही इस धरती पर अपने मनाकार को साकार करने में सफल हुआ है। यह स्वयं मानव का उपज नहीं है, तो किसका उपज है। चाहे इसे हम समझें, न समझें, सोचा जाना एक आवश्यक मुद्दा है। इसी के साथ मनःस्वस्थता को प्रमाणित करना ही मानव परम्परा में समाधान है।

ध्यान देने का मुद्दा यहाँ यही है कि जो कुछ भी हमारे सम्मुख प्रतिबिम्बित है, उसके मूल में कोई कर्त्ता पद है कि नहीं, करने वाला है कि नहीं। अगर इसके मूल में कोई कर्त्ता नहीं है, तो विश्वकर्त्ता पद का आरोप गलत हो गया। अगर कर्त्ता नहीं है, तो भोक्ता पद कैसा होगा। यदि ऐसा नहीं है, तब दृष्टा पद का क्या हुआ। यह सब एक के बाद एक प्रश्न उदय होता रहा है। इन प्रश्नों का उत्तर आदर्शवादी विधि से नहीं मिल पाता है।

सहअस्तित्व वादी विधि से जब सोचने-विचारने लगे, निर्णयों को पहचानने लगे, तब पता लगा कि जो कुछ भी सहअस्तित्व में चारों अवस्था के रूप में कार्य कर रहा है, वह सब स्वयं स्फूर्त कर्त्ता पद में ही है। इस कारण क्रिया स्वयं में श्रम, गति, परिणाम के रूप में विकासक्रम के अर्थ में कार्य करता हुआ स्पष्ट है। इसी क्रम में, परिणाम का अमरत्व, श्रम का विश्राम, गति का गन्तव्य के रूप में जागृति को पहचाना गया। परिणाम का अमरत्व पद विकास के अर्थ में, श्रम का विश्राम, गति का गन्तव्य, जागृति और जागृतिपूर्णता के रूप में पहचानना सम्भव हो पाया है। इस प्रकार मानव स्वयं जागृति पद का ज्ञाता उद्‌गाता अथवा प्रमाणित करने योग्य इकाई है, यह समझ में आता है। उक्त सभी अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि सहअस्तित्व में अर्थात् व्यापक वस्तु में संपूर्ण एक-एक वस्तुयें सम्पृक्त रहने से ऊर्जा सम्पन्नता, बल सम्पन्नता वश, स्वयं स्फूर्त विधि से क्रियाशील होना, इसके लिए कोई कराने वाले का जरूरत न होना पाया गया। छोटे से छोटे, बड़े से बड़े सभी रचनायें अपने आप में क्रियाशील रहना देखने को मिला। ऐसी क्रियाशीलता ही श्रम, गति, परिणाम के रूप में, यही विकासक्रम में परिणाम का अमरत्व विकास पद से ख्यात होना समझ में आ गया। इसकी गवाही गठन पूर्ण परमाणु पद ही है, चैतन्य पद ही है। विकास क्रम में कर्त्ता पद स्पष्ट था। चैतन्य पद में जागृति क्रम में जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में जीव संसार और भ्रमित मानव परम्परा में जीने की आशा, विचार, इच्छा स्पष्ट हो गई। जीने की आशा को स्पष्ट करते हुए चाहना, न चाहना प्रमाणित हो गयी। इसी के साथ चाहत के रूप में अर्थात् जीने

की चाहत के साथ सुखी होने का चाहत मानव से प्रकाशित हुई। इसके लिये मनाकार को साकार करना सम्भव हो गया। इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सुखी होने की मानसिकता, खुद की इच्छा के रूप में मानव में प्रगट हुई। इसके आधार पर पहले से कर्त्ता पद रहा, भोक्ता पद की अपेक्षा हुई, सुख भोगने की अपेक्षा हुई। इसके लिए दृष्टा पद का उदय होना अवश्यंभावी हो गया। ऐसा दृष्टा पद प्रतिष्ठा का प्रमाण ही है, समझदारी। समझदारी ही दृष्टा पद, ज्ञान तत्व के साथ ज्ञाता के रूप में प्रतिष्ठा सम्पन्न होना पाया गया। इस विधि से दृष्टा, कर्त्ता, भोक्ता पद को मानव ही प्रमाणित करता है। मानव, जीवन और शरीर का संयुक्त रूप में ही वैभवित रहना पाया जाता है। चैतन्य इकाई की महिमा दृष्टा, ज्ञाता पद सम्पन्नता को प्राप्त कर लेना ही है। फलस्वरूप, प्रमाणित करने के अर्थ में मानव परम्परा में प्रमाणित करता हुआ कर्त्ता, भोक्ता पद में मानव वैभवित होना पाया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया भौतिक, रासायनिक संसार स्वयं स्फूर्त कर्त्ता पद में, चैतन्य पद जीवन अपने जागृति सम्पन्नता सहित दृष्टा, ज्ञाता के रूप में होना पाया गया। दृष्टा, ज्ञाता के रूप में कर्त्ता पद का उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता विधि से जीवनाकाँक्षा, मानवाकाँक्षा को प्रमाणित करने का सौभाग्य उदय होता है। इसके विपरीत भ्रमित रहने से, समस्याओं से, क्लेशित होना होता है। जहाँ तक रासायनिक, भौतिक संसार है, यह विकासक्रम में यथास्थिति में परिणामशीलता के आधार पर स्पष्ट हुई है। इस प्रकार कर्ता पद के साथ भोक्ता पद बना ही है। क्योंकि परिणाम का स्वरूप अनेक यथास्थिति में दिखाई पड़ता है। देखने का मतलब समझना ही है। समझना संपूर्ण वैभव, महिमा जीवन में होना पाया जाता है। इस प्रकार, चैतन्य संसार में दृष्टा पद प्रतिष्ठा जुड़ गयी। यह जागृति के फलस्वरूप स्पष्ट हुई। यही मुख्य मुद्दा है। ऐसे सम्पूर्ण रासायनिक, भौतिक क्रिया में, जीव संसार में, भ्रमित मानव में कर्ता, भोक्ता होने का गवाही सदा-सदा से बना ही है। इसीलिए, मानव कर्ता दृष्टा पद पूर्वक ही सार्थक सुफल होने की व्यवस्था है। भ्रमित अवस्था में नहीं। अस्तु, दृष्टा पद जागृत परम्परा का ही महिमा होना स्वभाविक है। इसलिए मानव परम्परा को बनाये रखना हम सब मानव के लिये सर्व शुभकारी सूत्र है, व्याख्या है।

नित्यम् यातु शुभोदयम्

ग्रंथ

''अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन''
बनाम
''मध्यस्थ दर्शन सह-अस्तित्ववाद''

दर्शन (मध्यस्थ दर्शन)

★ मानव व्यवहार एवं दर्शन
★ मानव कर्म दर्शन
★ मानव अभ्यास दर्शन
★ मानव अनुभव दर्शन

वाद (सहअस्तित्ववाद)

★ व्यवहारात्मक जनवाद
★ समाधानात्मक भौतिकवाद
★ अनुभवात्मक अध्यात्मवाद

शास्त्र (अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन)

★ व्यवहारवादी समाजशास्त्र
★ आवर्तनशील अर्थचिंतन
★ मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान

संविधान

★ मानवीय आचार संहिता रूपी मानवीय संविधान सूत्र व्याख्या

परिभाषा

★ परिभाषा संहिता

अन्य

★ विकल्प
★ अध्ययन बिंदु
★ आरोग्य शतक
★ जीवन विद्या योजना
★ मानव संचेतनावादी शिक्षा-संस्कार योजना
★ परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था योजना

:: मध्यस्थ दर्शन आधारित उपयोगी संकलन ::

परिचयात्मक संकलन

★ जीवन विद्या एक परिचय

सहयोगी संकलन

★ संवाद - भाग-1

★ संवाद - भाग-2

पुस्तक प्राप्ति संपर्क एवं निःशुल्क PDF डाउनलोड के लिए :-

Website : www.madhyasth-darshan.info

Email. : books@madhyasth-darshan.info